

अन्तवत्तु द्वितीयं स्याद् भूयो लोके समीक्षणात् ।
 सान्ते भयं सर्वथैवाभयं तस्मात् कुतो भवेत् ॥ ६६ ॥
 संयोगो विप्रयोगान्तः सर्वथैव विभावितः ।
 फलयोगोऽपि तस्माद्धि विनश्येदिति निश्चयः ॥ ६७ ॥
 यावदन्यत् फलं प्रोक्तं भयं तावत्प्रकीर्तितम् ।
 तदेवाभयरूपन्तु फलं सर्वे प्रचक्षते ॥ ६८ ॥
 यदात्मनोऽनन्यदेव फलं मोक्षः प्रकीर्तितः ।
 ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमपि फलं चैकं यदा भवेत् ॥ ६९ ॥
 तदा हि परमो मोक्षः सर्वभीतिविवर्जितः ।
 ज्ञानं विकल्पसङ्कल्पहानं मौढ्यविवर्जितम् ॥ ७० ॥
 ज्ञातुः स्वच्छात्मरूपं तदादावनुपलक्षितम् ।
 उपदेशक एवातो गुरुः शास्त्रं च नेतरत् ॥ ७१ ॥
 एतदेव हि विज्ञेयस्वरूपमभिधीयते ।
 ज्ञातृज्ञानज्ञेयगतौ यावद्धेदौऽवभासतै ॥ ७२ ॥
 तावज्ज्ञाता ज्ञानमपि ज्ञेयं वा न भवेत् क्वचित् ।
 यदा भेदो विगलितो ज्ञात्रादीनां मिथः स्थितः ॥ ७३ ॥
 तदा ज्ञात्रादिसम्पत्तिरेतदेव फलं स्मृतम् ।

अपनी आत्मा से अलग जो कुछ भी होगा, वह नाशवान् तो होगा ही, क्योंकि
 पूरा ही इस संसार में देखा जाता है । नाशवान् पदार्थ में तो हर तरह का डर बना
 ही रहता है । अतः उसे पाकर कोई निडर कैसे हो सकता है ? ॥ ६६ ॥

हर संयोग की परिणति तो वियोग ही देखा जाता है । अतः यह निश्चय है कि
 किसी अन्य फल का संयोग अन्त में विनष्ट होना ही है ॥ ६७ ॥

अतः आत्मा से अलग यदि कोई फल रहता है, तो उससे बिछड़ने का डर तो
 रहता ही है । आत्मा से अभिन्न मोक्ष रूप फल ही तो निडर कहलाता है । यहाँ
 पाकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एकरूप हो जाता है ॥ ६८-६९ ॥

हर तरह की संकल्प रहित स्थिति में अज्ञानशून्य ज्ञान का उदय होता है । इसी
 स्थिति में भयशून्य मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ७० ॥

अपना यह विशुद्ध रूप पहले किसी ज्ञाता को पता नहीं चलता । ऐसी स्थिति में
 गुरु और शास्त्र ही उपदेष्टा होते हैं और कुछ नहीं ॥ ७१ ॥

ज्ञेय का यही स्वरूप है । जब तक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद रहेगा तब तक
 व कुछ नहीं है । जिस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक भेद मिट जाता है,
 उसी क्षण ये अपने रूप में आते हैं और यही इस ज्ञान का फल भी माना
 गया है ॥ ७२-७३ ॥

ज्ञानादिफलपर्यन्तं न भेदो वस्तुतो भवेत् ॥ ७४ ॥
 व्यवहारप्रसिद्धार्थं भेदस्तत्र प्रकल्पितः ।
 अतः पूर्वं लभ्यमत्र फलं नास्त्येव किञ्चन ॥ ७५ ॥
 आत्मैव मायया ज्ञातृज्ञानज्ञेयफलात्मना ।
 यावद्भाति भवेत्तावत् संसारो ह्यचलोपमः ॥ ७६ ॥
 यथा कथञ्चिदेतत्तु भायाद्भूदविद्वर्जितम् ।
 संसारो विलयं याथाच्छिन्नाभ्रमिव वायुना ॥ ७७ ॥
 एवंविधमहामोक्षे तत्परत्वं हि साधनम् ।
 तत्परत्वे तु सम्पूर्णं नान्यत् साधनमिष्यते ॥ ७८ ॥
 अपूर्णं तत्परत्वे तु किं सहस्रमुसाधनैः ।
 तस्मात् तात्पर्यमेव स्यान्मुख्यं मोक्षस्य साधनम् ॥ ७९ ॥
 तात्पर्यं सर्वथैतत्तु साधयामीति संस्थितिः ।
 यस्तात्पर्येण संयुक्तः सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ८० ॥
 दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा मुक्तः स्याद्वाऽन्यजन्मनि ।
 बुद्धिर्नैर्मल्यभेदेन चिरशीघ्रव्यवस्थितिः ॥ ८१ ॥
 बुद्धौ तु बहवो दोषाः सन्ति सर्वार्थनाशनाः ।
 यैर्जनाः सतततत्त्वेवं पच्यन्ते घोरसंसृतौ ॥ ८२ ॥

यथार्थ तो यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से लेकर इनके फल तक कोई भेद है ही नहीं। केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए ही इनमें भेद की कल्पना की गई है। अतः इस भेद-कल्पना से पहले पाने योग्य कोई फल है ही नहीं ॥ ७४-७५ ॥

सांसारिक माया के कारण जब तक यह आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और फल के रूप में दीख रही है तब तक यह दुनिया राह रोके पहाड़ की तरह खड़ी है ॥ ७६ ॥

किन्तु किसी तरह यह आत्मा यदि भेदहीन दिखलाई पड़ने लगे तो हवा के शोंके से तितर-बितर किये गये बादल की तरह यह दुनिया विलीन हो जाती है ॥ ७७ ॥

इस तरह संसार से मुक्ति पाने के लिए तत्परता ही मुख्य साधन है। यदि पूरी तत्परता हो तो फिर किसी दूसरे साधन की कोई जरूरत नहीं है ॥ ७८ ॥

यदि पूरी तत्परता न हो तो हजारों दूसरे साधनों से भी कोई फायदा नहीं है। अतः तत्परता ही मुक्ति का प्रमुख साधन है ॥ ७९ ॥

“जैसे भी होगा मैं इस काम को अवश्य ही पूरा करूँगा” इस स्थिति का नाम ही तत्परता है। जिसके पास ऐसी तत्परता है वह हर तरह से जीवन्मुक्त है ॥ ८० ॥

ऐसे लोग कुछ दिनों में, महीनों, सालों या जन्मान्तरों में मुक्त हो ही जायेंगे। बुद्धि की निर्मलता के भेद से ही उसके शीघ्र या देर से मुक्त होने की व्यवस्था जाननी चाहिए ॥ ८१ ॥

बुद्धि में हर तरह के पुरुषार्थ को विनष्ट करने की ताकत होती ही है। इसी

तत्राद्यः स्यादनाश्वासो द्वितीयः कामवासना ।
 तृतीयो जाड्यता प्रोक्ता त्रिधैवं दोषसङ्ग्रहः ॥ ८३ ॥
 द्विविधः स्यादनाश्वासः संशयश्च विपर्ययः ।
 मोक्षोऽस्ति नास्ति वेत्याद्यः संशयः समुदाहृतः ॥ ८४ ॥
 नास्त्येव मोक्ष इत्याद्यो भवेदत्र विपर्ययः ।
 एतद् द्वयन्तु तात्पर्यं मुख्यं स्यात् प्रतिबन्धकम् ॥ ८५ ॥
 विपरीतनिश्चयेन नश्येदेतद् द्वयं क्रमात् ।
 अत्रोपायो मुख्यतमो मूलच्छेदो न चापरः ॥ ८६ ॥
 अनाश्वासस्य मूलन्तु विरुद्धतर्कचिन्तनम् ।
 तत्परित्यज्य सत्कार्वाचित्तनस्य प्रसाधने ॥ ८७ ॥
 विपरीतो निश्चयः स्यान्मूलच्छेदनपूर्वकः ।
 ततः श्रद्धासमुदयादनाश्वासः प्रणश्यति ॥ ८८ ॥
 कामादिवासना बुद्धेः श्रवणे प्रतिबन्धिका ।
 कामादिवासनाविष्टा बुद्धिर्नैव प्रवर्तते ॥ ८९ ॥
 लोकेऽपि कामी काम्यस्य सदा ध्यानैकतत्परः ।
 पुरःस्थितं न पश्येच्च श्रोत्रोक्तं शृणुयान्न च ॥ ९० ॥

यदि के वात्पात्रक में कँसकर लोग जन्म-मरण रूपी भयंकर संसार की आग में जलते पाते हैं ॥ ८२ ॥

इनका पहला दोष है—अविश्वास । दूसरा दोष है—कामवासना और तीसरा दोष है—जड़ता । मुख्यतः इसके ये तीन दोष हैं ॥ ८३ ॥

अविश्वास दो तरह के हैं—संशय और विपर्यय । मोक्ष नाम की कोई वस्तु है या नहीं ? यह पहला संशयदोष है ॥ ८४ ॥

मुक्ति नाम की कोई वस्तु है ही नहीं—ऐसी मान्यता विपर्ययदोष है । ये दोनों दो तरह के दोष तत्परता के प्रमुख बाधक हैं ॥ ८५ ॥

इनके विपरीत निश्चय करने पर ये दोनों दोष अपने-आप मिट जाते हैं । किन्तु इनके रोकने का प्रमुख उपाय तो इनका समूल विनाश ही है कोई और नहीं ॥ ८६ ॥

अविश्वास का मूल कारण है—आस्त्र-विरुद्ध तर्कों का सहारा । इसे छोड़कर यदि आस्थानुमोदी तर्कों का सहारा लिया जाय तो विपरीत निश्चय की जड़ खोदकर उसे मिटाया जा सकता है । श्रद्धा जगते ही अविश्वास स्वतः मिट जायेगा ॥ ८७-८८ ॥

कामवासना बुद्धि के श्रवण में रुकावट डालनेवाली होती है । क्योंकि जिस बुद्धि में कामवासना होती है, उसमें सात्त्विक भावना नहीं होती है ॥ ८९ ॥

लोकव्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि कामनाशील व्यक्ति जब अपनी काम्य वस्तु में लीन रहता है तब उसे न तो सामने रखी वस्तु दोखती है और न उसे कान में कही बात ही सुनाई पड़ती है ॥ ९० ॥

कामादिवासितस्यैवं श्रुतं चाश्रुतसम्मितम् ।
 कामादिवासनां तस्माज्जयेद्वैराग्यसम्पदा ॥ ९१ ॥
 सन्ति कामक्रोधमुखा वासनास्तु सहस्रशः ।
 तत्र कामो मूलभूतस्तन्नाशे न हि किञ्चन ॥ ९२ ॥
 ततो वैराग्यसंयोगाद्वाशयेत् कामवासनाम् ।
 आशा हि कामः सम्प्रोक्त एतन्मे स्यादिति स्थिता ॥ ९३ ॥
 शक्येषु स्थूलभूता सा सूक्ष्माऽशक्येषु संस्थिता ।
 दृढवैराग्ययोगेन सर्वा तां प्रविनाशयेत् ॥ ९४ ॥
 तत्र मूलं काम्यदोषपरामर्शः प्रतिक्षणम् ।
 वैमुख्यं विषयेभ्यश्च वासना नाशयेदिति ॥ ९५ ॥
 यस्तृतीयो बुद्धिदोषो जाड्यरूपो व्यवस्थितः ।
 असाध्यः सोऽभ्यासमुखैः सर्वथा ऋषिसत्तमाः ॥ ९६ ॥
 येन तात्पर्यतश्चापि श्रुतं बुद्धिमनारुहेत् ।
 तज्जाड्यं हि महान् दोषः पुरुषार्थविनाशनः ॥ ९७ ॥
 तत्रात्मदेवतासेवामृते नान्यद्वि कारणम् ।
 सेवायास्तारतम्येन जाड्यं तस्य हराम्यहम् ॥ ९८ ॥

कामवासना से जिसका मन कलुषित रहता है, वह शास्त्रवचन सुनकर भी अनमुनी कर देता है । ऐसी स्थिति में विरक्ति-भावना से इस प्रवृत्ति पर विजय पानी चाहिए ॥ ९१ ॥

काम, क्रोध आदि वासनाएँ तो हजारों हैं; इनकी जड़ तो काम ही है । इन्हें विनष्ट कर देने पर अन्य दूसरी वासना स्वतः मिट जाती है ॥ ९२ ॥

अतः विरक्ति की भावना से कामवासना को विनष्ट करना चाहिए । आशा का ही दूसरा नाम काम है । मनुष्य के मन में—‘मुझे यह मिल जाय’ इस रूप में वह हमेशा मौजूद रहती है ॥ ९३ ॥

जो वस्तु मिल सकती है उसमें वह स्थूल रूप से रहती है और जो नहीं मिल सकती उनमें वह सूक्ष्म रूप से रहती है । ऐसी हर तरह की आशा को दृढ़ विरक्ति से विनष्ट कर देना चाहिए ।

ऐसी साधना की जड़ है—हर पल काम्यवस्तुओं में दोषदृष्टि रखना । विषयों के प्रति विमुखता ही वासना को विनष्ट कर देती है ॥ ९५ ॥

मुनियो ! तीसरा दोष है—बुद्धि की जड़ता । इसे अभ्यास के द्वारा मिटाना तो बिलकुल असंभव है ॥ ९६ ॥

इसी जड़ता के कारण तत्पर होकर सुनी गई बातें भी बुद्धि में समा नहीं पाती । मनुष्य के सभी पुरुषार्थों को जड़ता बिलकुल व्यर्थ कर देती है ॥ ९७ ॥

इससे छुटकारा मिलने का उपाय आत्मदेव की उपासना के अतिरिक्त और कुछ

जाड्याल्पानल्पभावेन सद्यो वा परजन्मनि ।
 भवेत्तस्य फलप्राप्तिर्जाड्यसंयुक्तचेतसः ॥ ९९ ॥
 सर्वसाधनसम्पत्तिर्ममैव प्रणिधानतः ।
 उपयाति च यो भक्त्या सर्वदा मामकैतवात् ॥ १०० ॥
 स साधनप्रत्यनीकं विधूयाशु कृती भवेत् ।
 यस्तु मामीश्वरीं सर्वबुद्धिप्रसरकारिणीम् ॥ १०१ ॥
 अनादृत्य साधनैकपरः स्यान्मूढभावतः ।
 पदे पदे विहन्येत फलं प्राप्येत वा न वा ॥ १०२ ॥
 तस्मात्तु ऋषयो मुख्यं तात्पर्यं साधनं भवेत् ।
 एवं तात्पर्यवानेव साधकः परमः स्मृतः ॥ १०३ ॥
 तत्र मङ्गक्तियुक्तस्तु साधकः सर्वपूजितः ।
 सिद्धिरात्मव्यवसितिर्देहानात्मत्वभावना ॥ १०४ ॥
 आत्मत्वभावनं नूनं शरीरादिषु संस्थितम् ।
 तदभावनमात्रञ्च सिद्धिमौढ्यविवर्जितम् ॥ १०५ ॥
 आत्मा व्यवसितः सर्वैरपि नो केवलात्मना ।
 अत एव तु सम्प्राप्ता महानर्थपरम्परा ॥ १०६ ॥

ही होती नहीं। साधक की उपासना के अनुसार कम या ज्यादा उसकी जड़ता में दूर करती है ॥ ९८ ॥

जड़ चित्तवाले साधक को उसकी कम या ज्यादा जड़ता के अनुसार इसी या अगले जन्म में फल मिल जाता है ॥ ९९ ॥

हर तरह के साधनों की पूर्णता मेरी उपासना से ही होती है। जो हमेशा निरलस भाव से भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करता है, वह साधना के समस्त विधियों को पार कर निहाल हो जाता है ॥ १०० ॥

इस ओर सबकी बुद्धि को मैं प्रेरित करती हूँ। अपनी जड़बुद्धि के कारण जो मेरा अनादर कर साधन में लग जाता है, वह पग-पग पर छोकर खाता है। उसे फल मिल भी जाता है और नहीं भी मिलता है ॥ १०१-१०२ ॥

अतः हे तापसी ! मुख्य साधन तो तत्परता ही है, अतः तत्पर साधक ही श्रेष्ठ साधक माना गया है। इनमें भी जो साधक मेरा भक्त है, वह सबका आदरणीय होता है ॥ १०३ ॥

देह की आत्मा समझने की भूल का अभाव और अपनी आत्मा में डहराव ही तो सिद्धि है। देहादि में जो आत्मबुद्धि होती है, उसकी कमी ही अज्ञानरहित सिद्धि है ॥ १०४-१०५ ॥

‘मैं कौन हूँ ?’ इसका सबको सही ज्ञान नहीं होने के कारण ही जन्म-मरणरूपी महान् इस अनर्थ की परम्परा मिली है ॥ १०६ ॥

तस्मात् केवलचिन्मात्रं यद्देहाद्यवभासकम् ।
 तन्मात्रात्मव्यवसितिः सर्वसंशयनाशिनी ॥ १०७ ॥
 सिद्धिरित्युच्यते प्राज्ञैर्नतः सिद्धिरनन्तरा ।
 सिद्धयः क्षेत्रत्वाद्या अणिमाद्यास्तथैव च ॥ १०८ ॥
 आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
 ताः सर्वास्तु परिच्छिन्नाः सिद्धयो देशकालतः ॥ १०९ ॥
 इयं स्यादपरिच्छिन्ना स्वात्मविद्या शिवात्मिका ।
 स्वात्मविद्यासाधनेषु ताः सर्वाः सुप्रतिष्ठिताः ॥ ११० ॥
 आत्मविद्याविधावेतास्त्वन्तरायप्रयोजकाः ।
 किं ताभिरिन्द्रजालात्मसिद्धितुल्याभिरीहितम् ॥ १११ ॥
 यस्य साक्षाद् ब्रह्मपदमपि स्यात्तृणसम्मितम् ।
 कियन्त्येताः सिद्धयो वे कालक्षपणहेतवः ॥ ११२ ॥
 तस्मात् सिद्धिर्नेतरा स्यादात्मविज्ञानसिद्धितः ।
 यथाऽऽयन्तशोकनाशो भवेदानन्दसान्द्रता ॥ ११३ ॥
 सैव सिद्धिर्नेतरा तु मृत्युप्रासविमोचिनी ।
 इयमात्मज्ञानसिद्धिर्विविधाभ्यासभेदतः ॥ ११४ ॥
 बुद्धिर्नेर्मल्यभेदाच्च परिपाकविभेदतः ।
 सङ्क्षेपतस्तु त्रिविधा चोत्तमा मध्यमाऽधमा ॥ ११५ ॥

अतः यह विशुद्ध चित्ति, जिसमें सारी दुनिया प्रतिबिम्बित है; उसी रूप में अपनी आत्मा को भी समझना ही सभी सन्देशों को मिटा देता है । इसी स्थिति को विज्ञजनों ने सिद्धि कहा है । इसके अलावा आकाश में घूमना या अणिमादि सिद्धियाँ वास्तविक सिद्धि नहीं हैं ॥ १०७-१०८ ॥

ये सभी सिद्धियाँ तो देश और काल से परिसीमित हैं । अतः ये आत्मज्ञान रूप सिद्धि के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं ॥ १०९ ॥

यह शिवस्वरूपा आत्मविद्या तो बसीमित है । ये सब तो आत्मज्ञान के साधन करते-करते स्वयं ही भा जाती हैं ॥ ११० ॥

किन्तु ये आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा डालनेवाली है । भला जिज्ञासुओं के जादूगर की जादूगरी जैसी इन सिद्धियों से क्या लेना-देना है ? ॥ १११ ॥

जिनकी दृष्टि में 'ब्रह्मपद' भी तिनके के समान है, उनके लिए केवल समय काटने में उपयोगी इन सिद्धियों का क्या मूल्य है ? ॥ ११२ ॥

अतः आत्मविज्ञान रूप सिद्धि से बढ़कर और कोई सिद्धि नहीं है, जिससे शोक का बिलकुल विनाश और आनन्दघनता मिल जाती है ॥ ११३ ॥

यही सिद्धि काल के गाल से भी बचानेवाली है । अभ्यास, पवित्र बुद्धि और ज्ञान की पुष्टि के तारतम्य से यह आत्मज्ञानरूपा सिद्धि अनेक तरह की है । किन्तु

लोके द्विजानामृषयः पठिता श्रुतिसम्मिता ।
 मेधया च महाभ्यासाद्व्यापारशतसङ्कुला ॥ ११६ ॥
 अप्यस्खलितवर्णा या पठिता श्रुतिरुत्तमा ।
 समाहितस्य व्यापारेऽसमाहितस्य चान्यदा ॥ ११७ ॥
 पूर्ववद्वाज्यस्खलिता पठिता मध्यमा श्रुतिः ।
 या सदा ह्यनुसन्धानयोगादेव भवेत्तथा ॥ ११८ ॥
 पठिता श्रुतिरत्यन्तास्खलिता मध्यमा हि सा ।
 एवमेवात्मविज्ञानसिद्धिरुक्ता त्रिघर्षयः ॥ ११९ ॥
 या महाव्यवहारेषु प्रतिसन्धानवर्जने ।
 अन्यदा तद्वर्जने वा सर्वदा प्रतिसन्धितः ॥ १२० ॥
 अन्यूनाधिकभावा स्यात् सोत्तमा मध्यमाऽधमा ।
 अत्रोत्तमैव संसिद्धेः पराकाष्ठा निरूपिता ॥ १२१ ॥
 स्वप्नादिष्वप्यवस्थामु यदा स्यात् परमा स्थितिः ।
 विचारक्षणतुल्येव सिद्धिः सा परमोत्तमा ॥ १२२ ॥
 सर्वत्र व्यवहारेषु यत्नात् संस्कारबोधतः ।
 यदा प्रवृत्तिसिद्धेः सा पराकाष्ठा समीरिता ॥ १२३ ॥

लोक में ब्राह्मण द्वारा पढ़ी हुई श्रुति की तरह यह तीन तरह की है—उत्तम, मध्यम और अधम ॥ ११४-११५ ॥

बुद्धि की प्रसरता और अत्यन्त अभ्यास के कारण जिस श्रुति के पाठ में सैकड़ों व्यापारों के रहते हुए वर्ण या स्वर में अन्तर नहीं आता, वह उत्तम श्रुति है ॥ ११६ ॥

पाठ के समय सावधान रहने पर, दूसरे समय असावधान रहने पर भी जो पहले ही की तरह बिना फिसले पढ़ा जा सके, वह मध्यम श्रुति है ॥ ११७ ॥

जो हमेशा प्रयासपूर्वक ही पढ़ी जाय और पाठ में अनेक भूलें भी हों, वह अधम श्रुति कहलाती है ॥ ११८ ॥

मुनियो ! इसी तरह आत्मविज्ञान की सिद्धि भी तीन तरह की कही गई है । जो अधिक व्यवहृत होने पर या बिना प्रयास के भी रहती है वह उत्तम; जो व्यापार के बिना भी स्वभावसिद्ध है वह मध्यम; और जो हमेशा अत्मानुसंधान करते रहने पर ही कम या বেশी भाव से मिलती है, वह अधम सिद्धि है । इनमें उत्तम सिद्धि की ही पराकाष्ठा मानी गई है ॥ ११९-१२१ ॥

जब सपने में भी जगे हुए की तरह ही उत्तम स्थिति बनी रहे तब वह सिद्धि परम उत्कृष्ट मानी गई है ॥ १२२ ॥

जब पहले के संस्कार जगने पर हर तरह के व्यवहार में प्रयत्न करने पर रगि जग जाती हो तो उसे हम सिद्धि की पराकाष्ठा कहते हैं ॥ १२३ ॥

अयत्नेनैव परमे स्थितिः संवेदनात्मनि ।
 अव्याहता यदा सिद्धिस्तदा काष्ठां समागता ॥ १२४ ॥
 व्यवहारपरो भावान् पश्यन्नपि न पश्यति ।
 द्वैतं तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२५ ॥
 जागरादौ व्यवहरन्नपि निदितवद्यदा ।
 स्थितिस्तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२६ ॥
 एवं सिद्धिमनुप्राप्तः सिद्धेषूत्तम उच्यते ।
 व्यवहारपरो नित्यं न समाधिं विमुञ्चति ॥ १२७ ॥
 कदाचिदपि मेघावी स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 ज्ञानिनां विविधानां च स्थितिं जानाति सर्वदा ॥ १२८ ॥
 स्वानुभूत्या स्वान्तरेव स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 संशयो वापि कामो वा यस्य नास्त्येव लेशतः ॥ १२९ ॥
 निर्भयो व्यवहारेषु स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 सर्वं सुखञ्च दुःखञ्च व्यवहारञ्च जागतम् ॥ १३० ॥
 स्वात्मन्येवाभिजानाति स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 अत्यन्तं बद्धमात्मानं मुक्तञ्चापि प्रपश्यति ॥ १३१ ॥
 यः स्वात्मनि तु सर्वात्मा स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 यः पश्यन् बन्धजालानि सर्वदा स्वात्मनि स्फुटम् ॥ १३२ ॥

बिना प्रयास ही ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व में निरन्तर ठहराव मिल जाय तो सिद्धि की पराकाष्ठा हो जाती है ॥ १२४ ॥

कामकाज में लगे रहने पर भी जब अनेक वस्तुओं को देखने के बावजूद वे दिखलाई न पड़े तो वैसे स्थिति में उत्तमा सिद्धि अपनी पूर्णता को पा लेती है । जने रहने पर कामकाज करते समय जब सपने की अनुभूति हो तब सिद्धि की पूर्णता जाननी चाहिए । ऐसी सिद्धि प्राप्त पुरुष सिद्धों में श्रेष्ठ कहलाता है ॥ १२५-१२६ ॥

लगातार कामकाज में लगे रहने पर भी जो कभी समाधि को नहीं छोड़ता, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२७ ॥

अपने अनुभव के द्वारा जो अपनी ही तरह अन्य ज्ञानियों की स्थितियों को जब चाहे जान लेता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२८ ॥

जिसके मन में थोड़ी भी कामना या संशय नहीं है और कामकाज में किसी तरह का डर नहीं है, वह व्यक्ति सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १२९ ॥

सभी सुख, दुःख और दुनियादारी को जो अपनी आत्मा में ही प्रतिबिम्बित देखता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३० ॥

अत्यन्त बद्ध या भुक्त पुरुष को जो अपनी आत्मा में प्रतिभासित देखता है, वह सर्वात्मा सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३१ ॥

मोक्षं नापेक्षते क्वापि स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 सिद्धोत्तमोऽहमेवेह न भेदस्त्वावयोः क्वचित् ॥ १३३ ॥
 एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं सुस्पष्टमनुयुक्तया ।
 एतन्मयोक्तं विज्ञाय न क्वचित् परिमुह्यते ॥ १३४ ॥
 इत्युक्ता सा परा विद्या विरराम भृगूद्वह ।
 श्रुत्वैतदृषयः सर्वे सन्देहमपहाय च ॥ १३५ ॥
 नत्वा शिवादीन् लोकेशान् जम्भुः स्वं स्वं निवेशनम् ।
 विद्यागीता मयैषा ते प्रोक्ता पापीघनाशिनी ॥ १३६ ॥
 श्रुता विचारिता सम्यक् स्वात्मसाम्राज्यदायिनी ।
 विद्यागीताऽत्युत्तमेयं साक्षाद्विद्या निरूपिता ॥ १३७ ॥
 एठतां प्रत्यहं प्रीता ज्ञानं दिशति सा स्वयम् ।
 संसारतिमिराम्भोधी मज्जतां तरणिर्भवेत् ॥ १३८ ॥
 इति श्रीत्रिपुर/रहस्ये ज्ञानखण्डे विद्यागीता नाम विंशोऽध्यायः ।

समस्त बन्धनों को अपनी आत्मा में ही सदैव प्रतिभासित देखकर जिसे कभी मुक्ति की इच्छा भी नहीं होती, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३३ ॥

अधिक क्या, वह श्रेष्ठ सिद्ध मैं ही हूँ । मुझमें उससे कभी कोई अन्तर नहीं है । मुनिगो ! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया । मेरे कथन का अभिप्राय ठीक से समझ लेने पर फिर मोह होता ही नहीं ॥ १३३-१३४ ॥

हे परशुराम ! इतना बोलकर वह पराविद्या मोन हो गई । उसका उपदेश सुनकर सभी ऋषियों का सन्देह दूर हो गया । शिवसहित देवताओं को प्रणाम कर वे सभी अपनी-अपनी जगह लौट गये ॥ १३५ ॥

यह मैंने तुम्हें समस्त पापों को विनष्ट करनेवाली विद्यागीता सुनायी । इस पर यदि ठीक ढंग से श्रवण-मनन किया जाय तो उसे अपने आत्मानन्द का साम्राज्य मिल जाय ॥ १३६ ॥

प्रत्यक्ष विद्यादेवी द्वारा प्रतिपादित यह विद्यागीत है । जो आदमी इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं, उन पर विद्यादेवी प्रसन्न होकर उन्हें ज्ञानदान देती हैं । इस संसाररूप बन्धकार के समूह में डूबनेवालों के लिए यह सूर्य या नौका के समान है ॥ १३७-१३८ ॥

विशेष—इस श्लोक में 'तरणि' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है । कीयगत इसका अर्थ सूर्य और नौका दोनों ही है । यहाँ सागर में डूबने से बचाने के लिए नौका तथा बन्धकार में डूबने से बचाने के लिए सूर्य अर्थ का श्लिष्ट प्रयोग सूचयुक्त है ।

बीसवाँ अध्याय समाप्त ।

एकविंशोऽध्यायः

श्रुत्वेत्थं भार्गवो रामो दत्तात्रेयमुनीरितम् ।
 अविद्याजालविभ्रान्तेर्मुक्तप्रायो बभूव ह ॥ १ ॥
 पुनः पप्रच्छाऽत्रिसुतं किञ्चिन्नत्वा सुभक्तितः ।
 भगवन् ब्रूहि विज्ञानसाधनं सुविनिश्चितम् ॥ २ ॥
 सारभूतञ्च सुलभं यत् साक्षात् फलदायकम् ।
 ज्ञानिनां लक्षणञ्चापि येन ज्ञास्यामि तान् द्रुतम् ॥ ३ ॥
 ज्ञानिनां देहसंयोगे वियोगे च स्थितिं यथा ।
 व्यवहारं कुर्वतां चाप्यनासक्तं मनः कथम् ॥ ४ ॥
 एतत् सर्वं सुकृपया स्पष्टं मे वक्तुमर्हसि ।
 एवमत्रिसुतः पृष्टो जमदग्निसुतेन वै ॥ ५ ॥
 सन्तुष्टः प्राह करुणासिन्धुः सम्बोध्य भार्गवम् ।
 शृणु राम प्रवक्ष्यामि रहस्यं ज्ञानसाधनम् ॥ ६ ॥
 ज्ञानस्य साधनं मुख्यं देवतानुग्रहः परः ।
 यः सर्वभावतः स्वात्मदेवतामुपसङ्गतः ॥ ७ ॥
 तस्य ज्ञानं सुसुलभं भवतीति विनिश्चयः ।
 एतत् सर्वोत्तमं राम प्रोक्तं ज्ञानस्य साधनम् ॥ ८ ॥

(ज्ञान के प्रमुख साधन, ज्ञानियों के लक्षण तथा हेमाङ्गद
 एवं ब्रह्मराक्षस का संवाद)

इस तरह परशुरामजी गुरु दत्तात्रेय का उपदेश सुनकर अविद्याजालरूपी संशय से प्रायः मुक्त हो गये ॥ १ ॥

अतिविनत भाव से भक्तिपूर्वक गुरु दत्तात्रेय को प्रणाम कर उन्होंने फिर पूछा— भगवन् ! ज्ञान पाने के लिए बिलकुल निर्णीत एवं पक्का साधन क्या है ? यह समझा दें । वह साधन सुलभ हो और मोक्षरूपी फल देनेवाला हो । ज्ञानियों को देखते ही मैं पहचान लूँ; इसके लिए उनका लक्षण भी बतलाने का कष्ट करें ॥ २-३ ॥

देह के साथ लगाव या अलगाव में उनकी हालत कैसी रहती है ? कामकाज करते समय भी उनका मन उनसे लिप्त क्यों नहीं होता ? ये सभी बातें कृपया मुझे साफ-साफ समझा दें ॥ ४-५ ॥

परशुरामजी का यह प्रश्न सुनकर दयालु गुरु दत्तात्रेयजी ने काफी प्रसन्न होकर कहा— सुनो परशुराम ! मैं तुम्हें ज्ञान का शुभ साधन बतलाता हूँ ॥ ५-६ ॥

परमात्मा का परम अनुग्रह ही ज्ञान का प्रमुख साधन है । जो आदमी पूरी

अन्यानपेक्षमेतत् फलसंसाधने क्षमम् ।
 एतद्विहायान्यदत्र न सम्पक् फलदं भवेत् ॥ ९ ॥
 शृण्वत्र कारणं राम सकारणमिदं भवेत् ।
 विज्ञानं केवलचित्तिर्या सर्वस्यावभासिका ॥ १० ॥
 तस्यावभासरूपायाः कल्पितावरणन्तु यत् ।
 विचारान् तदपोहेन तत् स्वरूपोपलक्षणम् ॥ ११ ॥
 तच्चान्येषां बहिर्भावतत्पराणां सुदुर्लभम् ।
 भक्तानामन्यपरताद्धानेन तत्परस्वतः ॥ १२ ॥
 सुलभं शीघ्रसम्प्राप्यं भवत्येव मुनिश्चितम् ।
 देवतातत्परस्त्वेव भूत्वा स्वल्पान्यसाधनः ॥ १३ ॥
 ज्ञात्वा कथञ्चिदात्मानमन्यान् प्रति निरूपयेत् ।
 निरूपयन् सदा राम समावेशं समाप्नुयात् ॥ १४ ॥
 एवं निरूपणाद्यैस्तु समावेशे दृढे सति ।
 शिवतामाप्य तच्चित्तं हर्षोद्वेगविवर्जितम् ॥ १५ ॥

लगन के साथ इस आत्मदेव की कारण में जाता है, उसके लिए ज्ञान गुलब हो जाता है यह तथ्य-निर्णीत है। अतः हे परशुराम ! ज्ञान का परमाङ्कट साधन यही है ॥ ७-८ ॥

किसी दूसरे साधन की सहायता के बिना ही यह साधन ज्ञान का फल दिलाने में सक्षम है और यदि यह न हो तो दूसरा कोई साधन ठीक ठीक फल नहीं दिला सकता है ॥ ९ ॥

हे परशुराम ! इसकी वजह सुनो, यह बात बेवजह नहीं है। दरअसल ज्ञान अपने आप में शुद्धचेतन ही है। यह तो सबका प्रकाशक है ॥ १० ॥

इस चेतन का स्वरूप प्रकाश है। यह प्रकाश एक नकली ढक्कन से ढका है। इस पर विचार करते ही इसका नकली आवरण हट जाता है और असली रूप साफ झलकने लगता है ॥ ११ ॥

किन्तु दूसरे साधकों को, जो दुनियादारी में लगे रहते हैं, ऐसा होना बड़ा कठिन है। भक्तों को भगवान् के सिवा और किसी से तो लगाव होता ही नहीं। अतः उन्हें यह फल बड़ी आसानी से मिल जाता है—यह बात बिल्कुल निश्चित है ॥ १२ ॥

पर जो परमात्मा में विन-शत लगे हैं, वे यदि वैराग्य जैसे दूसरे साधनों का भी थोड़ा सहारा लेकर उस परमतत्त्व से परिचित होकर दूसरे साधकों के सामने लगातार उसका बखान करें तो निश्चय ही वे परमात्मा की तरह हो जायेंगे ॥ १३-१४ ॥

इस तरह परमात्मा के सम्बन्ध में विवेचनापूर्वक निश्चय करते हुए जब उसकी समानता पक्की हो जाय तब उन्हें शिवत्व मिल जाता है। वे दुःख और सुख से परे हो

यत्र यत्र व्रजति तत् सर्वं तच्छिवसात्कृतम् ।
 करोत्युत्तमविज्ञानी जीवन्मुक्तपदस्थितः ॥ १६ ॥
 तस्मान् सुभक्तियोगेनान्येभ्यो भूयो निरूपणम् ।
 श्रेष्ठं साधनमेतत्तु नान्यदेतत्समं भवेत् ॥ १७ ॥
 भक्त्या निरूपणसमं न भवेदन्यसाधनम् ।
 ज्ञानिनां लक्षणं राम दुर्विज्ञेयं भवेत् खलु ॥ १८ ॥
 यतः सर्वान्तरं तत्तु नेत्रवागाद्यगोचरम् ।
 न निरूपयितुं शक्यं लक्षितुं वा परैः क्वचित् ॥ १९ ॥
 यथा शास्त्रज्ञता लोके त्वन्यैर्न ज्ञायते क्वचित् ।
 देहवस्त्रभूषणाद्यैरेवमन्यैर्न वेद्यते ॥ २० ॥
 विद्वत्ता हि स्वसवित्तिमात्रवेद्या न चान्यथा ।
 यथा संस्वादितरसरसज्ञत्व हि भागव ॥ २१ ॥
 तथापि चतुरैर्विद्यावद्भिस्तद्भाषणादिभिः ।
 वेद्यते हि यथा स्वस्य मार्गः सूक्ष्ममपिपीलकैः ॥ २२ ॥
 सन्ति स्थूललक्षणानि त्वनेकान्तानि तानि तु ।
 सूक्ष्मलक्षणाणि चान्यानि दुर्विज्ञेयानि वै परैः ॥ २३ ॥

जाते हैं। ऐसे लोग जहाँ कहीं भी जाते हैं वहाँ शिवमय कर देने हैं। ऐसे ज्ञानी उत्कृष्ट होते हैं और जिन्दा रहकर भी जीवन्मुक्त बन जाते हैं ॥ १५-१६ ॥

भक्तिभाव से दूसरे जिज्ञासुओं के सामने बार-बार आत्मतत्त्व का विवेचन करना ही श्रेष्ठ साधन है। इसके समान और कोई दूसरा साधन है ही नहीं। सचमुच भक्तिपूर्वक इस आत्मतत्त्व का विवेचनापूर्वक निश्चय करने से बढ़कर और कोई साधन नहीं है ॥ १७-१८ ॥

परशुराम ! रही बात ज्ञानियों के लक्षण की, सो इसे जानना तो बड़ा ही कठिन है। इसका असली रूप तो भीतरी है। इसे न तो आँखों से देखा जा सकता है और न ही यह इन्द्रियों की पकड़ में आनेवाला है। दूसरा कोई इसका न तो विवेचन कर सकता है और न दर्शन ही ॥ १८-१९ ॥

जैसे किसी की देह कैसी है ? उसके कपड़े और जेवर कैसे हैं ? यह जाना जा सकता है, उसी तरह उसका शास्त्र-ज्ञान तो नहीं जाना सकता; ठीक उसी तरह किसी के ज्ञान की चाह पाना संभव नहीं है ॥ २० ॥

शरबत की मिठास की अनुभूति तो जैसे शरबत पीनेवाले को ही होती है, उसी तरह तत्त्वज्ञता की अनुभूति आत्मा को ही होती है, दूसरे को नहीं ॥ २१ ॥

फिर भी नन्हीं-नन्हीं घिटियाँ जैसे अपनी राह आप खोज लेती हैं, उसी तरह चतुर विद्वान् पुरुष ज्ञानियों की बातें सुनकर उन्हें पहचान ही लेते हैं ॥ २२ ॥

इनमें कई स्थूल लक्षण बतलाये गये हैं, किन्तु वे लक्षण केवल इन्हीं में हो ऐसी

निरूपणं भाषणञ्च साधनाभिनयस्तथा ।
 ज्ञानिनामिव चान्यैस्तु कर्तुं शक्यो हि लक्ष्यते ॥ २४ ॥
 अनिमलान्तःकरणैरभ्यस्तं ज्ञानसाधनम् ।
 स्थिरीभवति यत्तेषां लक्षणं तत् प्रकीर्तितम् ॥ २५ ॥
 यस्य मानावमानौ च लाभालाभौ जयाजयौ ।
 नेषद्विशेषितुं शक्ती विज्ञातं ज्ञानिषूतमम् ॥ २६ ॥
 स्वात्मानुभववार्त्तासु पृष्ठो गूढार्थमप्युत ।
 असन्दिग्धः प्रतिबदेज्ज्ञादिति ज्ञानिषूतमः ॥ २७ ॥
 यस्योत्साहो भवेज्ज्ञानं वात्स्वितितरां किल ।
 निरूपणे ह्यवैमुख्यं ज्ञानिनो लक्षणं हि तन् ॥ २८ ॥
 अनारम्भः स्वभावेन सन्तोषः शुचिचित्ता ।
 महापत्स्वपि शान्तात्मा स भवेज्ज्ञानिषूतमः ॥ २९ ॥
 एतदादीनि लक्ष्माणि भार्गवोत्तमाजनिनाम् ।
 स्वात्मनस्तु परीक्षायां सुस्थिराणि न सशयः ॥ ३० ॥
 साधकस्तु सदा स्वात्मपरीक्षावत्परो भवेत् ।
 यथा परीक्षणेऽन्यस्य निपुणः सम्प्रवर्तते ॥ ३१ ॥

जात नहीं है । इसी तरह अनेक सूक्ष्म लक्षण भी इनमें हैं, किन्तु दूसरे लोग इन्हें जान नहीं पाते ॥ २३ ॥

इस तरह देखने में जाता है कि ज्ञानियों की तरह निरूपण, भाषण एवं साधनों का नाटक दूसरे लोग भी कर सकते हैं ॥ २४ ॥

जिनका भीतरी मन पवित्र नहीं है, ऐसे लोग भी यदि ज्ञान के किसी साधन का अभ्यास करते हैं तो वे उनमें स्थिर हो जाते हैं और वही उनका लक्षण बन जाता है ॥ २५ ॥

जिनके मन में भान-अपमान, हानि-लाभ, हार-जीत में कोई फर्क नहीं पड़ता वे उत्तम ज्ञानी माने गये हैं ॥ २६ ॥

अपनी आत्मा के बारे में यदि कोई कठिन सवाल पूछे और उसका सही निश्चित जवाब उसी क्षण कोई दे दे, तो वह ज्ञानियों में उत्तम है ॥ २७ ॥

ज्ञान की चर्चा में जिसकी रुचि हो, उसकी विवेचना में जो पीछे न हटे—यह भी उस व्यक्ति के ज्ञानी होने का ही लक्षण है ॥ २८ ॥

स्वभाव से ही किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति मन का लगाव न हो, मन में सन्तोष हो, हृदय से पवित्र हो, गाढ़ी विपत्ति में भी घबड़ाने की अपेक्षा शान्त रहे, वह ज्ञानियों में उत्तम है ॥ २९ ॥

परशुराम ! ज्ञानियों के कुछ ऐसे और भी लक्षण हैं । किन्तु इतना निश्चित है कि वे अपनी परीक्षा में सुस्थिर हैं ॥ ३० ॥

तथा परीक्षन् स्वात्मानं सिद्धिं न कथमाप्नुयान् ।
 यदाभ्यगुणदोषाणामविचारणतत्परः ॥ ३२ ॥
 स्वीयानां गुणदोषाणां विचारपरमो भवेत् ।
 तदा सर्वसाधनानां प्राप्या सिद्धिमुपेक्ष्यति ॥ ३३ ॥
 एवं प्रोक्तानि लक्ष्माणि ज्ञानिनां भृगुनन्दन ।
 स्वात्मनस्तु परीक्षायामुपयुक्तानि सर्वथा ॥ ३४ ॥
 अन्येषान्तु परीक्षायामनेकान्तान्यभूनि तु ।
 यतो ये ज्ञानिनोऽत्यन्तशुद्धस्वान्ता भृगूद्वह ॥ ३५ ॥
 तेषामापातसंसिद्धसाधनैः सिद्धिरास्थिता ।
 अतः पूर्ववासनानुरोधव्यापारतत्पराः ॥ ३६ ॥
 कथं परीक्षणीयास्ते सामान्यव्यवहारिणः ।
 ज्ञानिनस्तु तत्परीक्षां कुर्युरभ्यासवैभवात् ॥ ३७ ॥
 आपातदर्शनादेव यथा रत्नपरीक्षकाः ।
 मन्दज्ञानवतां देहसंस्था मूढसमेव हि ॥ ३८ ॥
 यतो न तेषां राहजसमाधिप्राप्तिरस्ति हि ।
 यावद्विमर्शनपरास्तावत्ते पूर्णरूपिणः ॥ ३९ ॥

साधक को तो अपने मन की जाँच पड़ताल में हमेशा लगे रहना चाहिए । वह जैसे बड़ी होशियारी से दूसरों की जाँच में लगा रहता है, उसी तरह यदि अपनी जाँच करता रहे तो भला उसे सिद्धि कैसे नहीं मिलेगी ? ॥ ३१-३२ ॥

आदमी जिस समय दूसरों के गुण-दोषों की विवेचना करने की जगह अपने ही गुण-दोषों की छानबीन में लग जायेगा, उसी क्षण वह हर तरह के साधनों को पाकर सिद्धि तो पा ही लेगा ॥ ३२-३३ ॥

हे भृगुनन्दन ! इस तरह यहाँ ज्ञानियों के जो लक्षण बतलाये गये हैं वे तो बिलकुल अपने मन की परीक्षा के लिए ही उपयुक्त हैं ॥ ३४ ॥

लेकिन ये लक्षण दूसरों की जाँच-पड़ताल के लिए बिलकुल ही उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि हे परशुराम ! जिनका मन बिलकुल پاک-साफ है उन्हें तो शुरू में ही अनेक अन्य साधनों से सिद्धि मिल ही जाती है ॥ ३५-३६ ॥

अतः वे अपने पहले के संस्कार के मुताबिक ही काम-धन्धे में लगे रहते हैं । ऐसे साधारण काम-काजियों की जाँच-पड़ताल तुम कैसे कर सकोगे ? उनकी जाँच तो अपने अनुशीलन की ताकत से ज्ञानीजन ही कर पायेंगे । कोई औहरी ही तो रत्न को देखते ही परख सकता है, दूसरा नहीं ॥ ३६-३७ ॥

मुस्त ज्ञानियों की देह की स्थिति तो अज्ञानियों की तरह ही होती है, क्योंकि उन्हें सहज समाधि प्राप्त नहीं होती ॥ ३८-३९ ॥

ऐसे ज्ञानी जब तक विचार में डूबे रहते हैं तब तक तो वे अपने पूरे स्वरूप में ही

यदा विचारमुखास्तदा देहमवावृत्तः ।
 सुखदुःखनुषोऽत्यन्तं पशुतुल्यतया स्थिताः ॥ ४० ॥
 मध्ये मध्ये पूर्णदशायादनाशिवृत्ता अपि ।
 तेषां या मा पशुदशा गद्धिमर्शान्तरालया ॥ ४१ ॥
 न बन्धनाय भवति दग्धरज्जुरिव स्थिता ।
 लाक्षारसैर्यदा वसनप्रान्तयुग्मं सुरञ्चिनम् ॥ ४२ ॥
 व्याप्त्या वासोमध्यमपि सर्वं लाक्षाहणं भवेत् ।
 एवं तस्य व्यवहृतिश्चिदामर्शनमध्यगा ॥ ४३ ॥
 चिद्रूपात्मैकतां याता न ततो बन्धनाय सा ।
 मध्यविज्ञानिनां देहसंयोगो नास्ति सर्वथा ॥ ४४ ॥
 देहात्मत्वग्रहो देहसंयोगः प्रोच्यते बुधैः ।
 स नास्ति मध्यविज्ञानवतो राम कदाचन ॥ ४५ ॥
 अध्यासातिशयात्तस्य मनो लीनं हि सर्वदा ।
 सदा समाहितस्वान्तो व्यवहारो न तस्य हि ॥ ४६ ॥
 यो देहवात्रानिर्वाहः सोऽपि तस्य सुषुप्तिवत् ।

॥ ४० ॥ हैं, किन्तु जब तक वे विचारोन्मुख नहीं होते तो देह के प्रति ग्लिष्टाज्ञान होने
 कारण सुख दुःख की तीव्र अनुभूतिबल पशु की तरह रहने है ॥ ३९ ४० ॥

बीच-बीच में उन्हें पूर्ण दशा आती रहती हैं । इनी से उन्हें शान्ति का अनुभव
 ॥ ४१ ॥ है । फिर भी उस अच्छे विचार के बीच में उन्हें जो पशुदशा प्राप्त होती है, वह
 ॥ ४२ ॥ वही हुई रस्सी की तरह होती है । यही कारण है कि यह रस्सी उनके बन्धन का
 कारण नहीं बनती ॥ ४१ ॥

जब किसी कपड़े के दोनों छोर महावर से रग दिये जाते हैं तो रग के फेड़ जान
 ॥ ४३ ॥ का बीच का हिस्सा अपने-आप लाल हो जाता है ॥ ४२ ॥

कहा जा चुका है कि 'परमात्मा चित्स्वरूप है' उनका चिन्तन करते हुए बीच-
 ॥ ४४ ॥ में जो काम-काज होता है, वह भी उस परमात्मा से अलग नहीं होता है । यही
 कारण है कि यह काम-काज साधक का बन्धन नहीं बन पाता है ॥ ४३ ॥

योगत दर्श के जानियों को देह के साथ कोई लगाव नहीं रहता । होशियार लोग
 ॥ ४५ ॥ आत्मबुद्धि को ही देह का लगाव कहते हैं ॥ ४४ ॥

परशुराम ! औसत दर्जे के जानियों को देह का लगाव कभी नहीं होता ।
 ॥ ४६ ॥ लगातार अनुशीलन से उनका मन हमेशा उसी परमात्मा में लगा रहता
 है ॥ ४५ ॥

निश्चय समय उसका भीतरी मन समाधि में लीन रहता है, उस समय उसका
 ॥ ४६ ॥ व्यवहार बिल्कुल बन्द रहता है । उसका खान पान, चलना फिरना या अन्य
 ॥ ४६ ॥ क्रियाएँ तो गहरी नींद में किये गये काम की तरह ही होते हैं ॥ ४६ ॥

यथा कश्चिन् सुषुप्तिस्थो वासनामात्रतः क्वचिन् ॥ ४७ ॥
 किञ्चिदुक्त्वा च कृत्वा च न पश्चाद्वेद किञ्चन ।
 यथा च मदिरामत्तो वदन् कुर्वन्न वेद वै ॥ ४८ ॥
 एवमेष महायोगी लोकयात्राबहिर्गतः ।
 किञ्चित् केदाचित् कुर्वन्न न विजानाति तत् पुनः ॥ ४९ ॥
 प्रारब्धवासनाभ्यां तु स देहो निर्वहेत् सदा ।
 यस्तूत्तमः स विज्ञानी देहस्तस्यापि नास्ति हि ॥ ५० ॥
 व्यवहारं करोत्येष रथसारथिवत् स्थितः ।
 यथा रथेन व्यापारं कुर्वन्न रथदेहकः ॥ ५१ ॥
 सारथिः स्यादेवमेव देहव्यापारतत्परः ।
 न देही नापि व्यापारी शुद्धसंवेदनात्मकः ॥ ५२ ॥
 अन्तरत्यच्छतुस्वान्तो बहिर्व्यवहरत्यसौ ।
 यथा स्त्रीवेषितो नाट्ये द्वैरूप्यमुपसङ्गतः ॥ ५३ ॥
 यथा क्रीडन् कुमारेण प्रौढस्तद्दोषवर्जितः ।
 एवमेष जगत्क्रीडातत्परो निर्मलाशयः ॥ ५४ ॥

जैसे कोई सोया हुआ आदमी पहले की मई इच्छा के मुताबिक सपने में कुछ बोल या कर बैठता है तो पीछे जगने पर उसे इस कृत्य का कोई पता नहीं चलता ॥ ४७ ॥

जैसे कोई मदहोश शराबी नशे की झोंक में अनजाने ही कुछ बोलता या करता रहता है। खुमारी उतरने पर उसे पता नहीं चलता कि उसने क्या कहा या किया ? ठीक उसी तरह दुनियादारी से दूर रहनेवाला एक योगी कभी कुछ करता भी है तो बाद में उसे इसका पता ही नहीं चलता ॥ ४८-४९ ॥

ऐसे लोग अपनी देहयात्रा का निर्वाह तो नियति या पूर्वाभ्यास के कारण ही करते हैं। किन्तु जो उत्कृष्ट ज्ञानी है, उसका लगाव देह के साथ बिल्कुल नहीं होता। पर रथ पर सवार सारथी की तरह देह के साथ व्यवहार करते हैं ॥ ५० ॥

जैसे सारथी रथ पर सवार होकर अपना काम-काज तो करता है, पर वह रथ नहीं हो जाता है। इसी तरह उत्तम ज्ञानी देहयात्रा का निर्वाह करते हुए भी न तो देह बन आते हैं और न देहयात्रा के निर्वाहक ही। वे तो विशुद्ध ज्ञानी ही बने रहते हैं ॥ ५१-५२ ॥

वे तो भीतर से बिल्कुल पाक-साफ और अपने असली रूप में मौजूद रहते हुए ही ऊपर-ही-ऊपर दुनियादारी का निर्वाह करते हैं। जैसे रंगमंच पर स्त्री के वेश में उतरनेवाला पुरुष अपने दोनों रूप में समान रूप से मौजूद रहता है ॥ ५३ ॥

अथवा जैसे बच्चों के साथ खेलनेवाले सयाने लोग खेल की हार-जीत से बरी रहते हैं, उसी तरह उत्तम ज्ञानी सांसारिक जंजाल में फँसकर भी पाक-साफ बने रहते हैं ॥ ५४ ॥

मध्यजानी निरोधस्य प्रकर्षणाचलस्थितिः ।
 अचलस्थितिरेतस्य विचारस्य प्रकर्षनः ॥ ५५ ॥
 बुद्धेस्तु परिपाकेन मध्यमोत्तमयोर्मिदा ।
 अत्र ते शृणु वक्ष्यामि सत्रादं जानितोमिश्रः ॥ ५६ ॥
 पुरा हि पर्वतेशोऽभूद्राजा रत्नाङ्गदाहयः ।
 स विपाशामनु पुरीमध्यासीदमृताभिधाम् ॥ ५७ ॥
 तस्य पुत्रौ महात्मानौ स्थितावतिमनीषिणौ ।
 रुक्माङ्गवहेमाङ्गदौ जनकस्यगतिवल्लभौ ॥ ५८ ॥
 तत्र रुक्माङ्गदो ह्यासीच्छास्त्राणां पारदर्शनः ।
 हेमाङ्गदोऽतिविज्ञानी जानिनामुत्तमोऽभवत् ॥ ५९ ॥
 तावुभौ निर्गता सर्वसेनाभिः परिवारितौ ।
 मृगयार्थं वसन्तेषु ययनुर्गहनं वनम् ॥ ६० ॥
 तत्रानेकान् मृगान् व्याघ्रान् शशकान् महिषानपि ।
 हत्वाज्यन्तपरिश्रान्तावासाद्य हृदमास्थितौ ॥ ६१ ॥
 तद्धृदस्य परे पारे न्यग्रोथे ब्रह्मराक्षसः ।
 समस्तशास्त्रपारङ्गो विद्वद्भिरविबदत्यलम् ॥ ६२ ॥

औसत दर्ज के मध्यम जानियों की स्थिति तो बहुत ज्यादा अशुभ थी। नारायण अचल बनी रहती है। किन्तु उत्तम काटि के जानियों की स्थिति तो बेगक पर विनाश की उत्कृष्टता के कारण ही अचल बनो रहती है ॥ ५५ ॥

इस तरह बुद्धि की प्रौढ़ता की कमी-वेशी के हिसाब से उत्तम और मध्यम बोटि जानियों का भेद होता है। इसके बारे में मैं तुम्हें दो जानियों का पारस्परिक वार्ता सुनाता हूँ, सुनो ॥ ५६ ॥

पुराने जमाने की बात है—पहाड़ी इलाके में रत्नागद नाम का एक राजा था। राणा नदी के किनारे अमृता नाम की नगरी में वह रहता था ॥ ५७ ॥

उस राजा को दो बेटे थे। एक का नाम रुक्माङ्गद और दूसरे का नाम हेमाङ्गद था। दोनों ही बड़े बुद्धिमान्, उदारमनस और गिता के अत्यन्त प्यारे थे ॥ ५८ ॥

उनमें रुक्माङ्गद तो सकलशास्त्र-विशेषज्ञ था और हेमाङ्गद जानियों में श्रेष्ठ और जानमदारी था ॥ ५९ ॥

एक बार अपनी सारी सेना के साथ दोनों भाई नगर से बाहर निकले। वसन्त ऋतु था। शिकार खेलने के लिए दोनों भाई सघन वन में घुम पड़े ॥ ६० ॥

यहाँ उन्होंने अनेक हिरनो, बाघो, खरहो और गेंडो को मार गिराया। फिर एक एक सरोवर के किनारे आकर बैठ गये ॥ ६१ ॥

उस सरोवर के दूसरे किनारे पर एक विशाल बरगद का पेड़ था। उस पेड़ पर

निजितान् भक्षयन्नास्ते चिरकालाद्धि भार्गव ।
 रुक्माङ्गदश्चरामुखान्निशम्य वादकौतुकी ॥ ६३ ॥
 गत्वा तत्र भ्रातृयुतस्तेन वादपरोऽभवत् ।
 निजितस्तेन वादेषु गृहीतो ब्रह्मराक्षसा ॥ ६४ ॥
 रुक्माङ्गदोऽथ तं दृष्ट्वा प्राह हेमाङ्गदस्तु तम् ।
 भो ब्रह्मराक्षसेनं त्वं न भक्षयितुमर्हसि ॥ ६५ ॥
 मां जित्वाऽवरजं ह्यस्य ततो नौ सह भक्षय ।
 हेमाङ्गदवचः श्रुत्वा प्रोवाच ब्रह्मराक्षसः ॥ ६६ ॥
 चिराय लब्धो ह्याहारो बुभुक्षा मां प्रबाधते ।
 एतेन पारणां कृत्वा विवदामि त्वया सह ॥ ६७ ॥
 तनस्त्वामपि निजित्य भक्षितेन त्वया ततः ।
 अत्यन्तं तपितो भूयामिति मे नृप निश्चयः ॥ ६८ ॥
 चिरादेव वरः प्राप्तो वसिष्ठात् महात्मनः ।
 कदाचिदागतः शिष्यो वसिष्ठस्य तु भक्षितः ॥ ६९ ॥
 देवराताभिघ्नस्तेन शप्तस्तेन महात्मना ।

एक ब्रह्मराक्षस रहता था । वह शास्त्रज्ञान में पारंगत था । विद्वानों के साथ वह शास्त्रार्थ करता था ॥ ६२ ॥

हे परशुराम ! शास्त्रार्थ में वह जिसे पराजित कर देता था उसे खा जाता था । पिछले बहुत दिनों से उसका यह तिलसिला जारी था । रुक्मांगद को भी वाद-विवाद का शौक था । उन्हें जब इसकी खबर मिली तब वह भाई के साथ वहाँ जाकर उससे शास्त्रार्थ करने लगा ॥ ६३ ॥

ब्रह्मराक्षस ने रुक्मांगद हार गया । उसने रुक्मांगद को पकड़ लिया । यह देखकर हेमांगद ने कहा—हे ब्रह्मराक्षस ! तुम इन्हें मत खाओ । मैं इनका छोटा भाई हेमांगद हूँ, हमें पहले जीत लो । फिर हम दोनों को एक साथ ही खा लेना ॥ ६४-६५ ॥

हेमांगद की बात सुनकर ब्रह्मराक्षस ने कहा—मुझे बहुत जोर से भूख लगी है । बहुत दिनों के बाद मुझे यह आहार मिला है । पहले मुझे इसका पारण कर लेने दो फिर तुमसे शास्त्रार्थ कर लूँगा ॥ ६६-६७ ॥

फिर तुम्हें भी जीत कर खा लूँगा तो मेरा पेट भर जायेगा । राजन् ! यही मेरा विचार है ॥ ६८ ॥

बहुत दिन बीत गये । महर्षि वसिष्ठ ने मुझे ऐसा ही वरदान दिया था । एक बार उनका देवरात नामक शिष्य यहाँ आया था, उसे मैं खा गया तो उन्होंने मुझे शाप दिया ॥ ६९ ॥

इतः परं भक्षयित्वा मनुष्यं ब्रह्मराक्षसः ॥ ७० ॥
 दग्धं भवेत्तव मुखमिति पश्चान्मया मुनिः ।
 भूयः सम्प्रार्थितो मह्यं प्रायच्छद्वरमुत्तमम् ॥ ७१ ॥
 वादेषु निजितान् मर्त्यान् भक्षय त्वं समन्ततः ।
 इति तद्वादविजितान् भक्षयामि ततस्त्वहम् ॥ ७२ ॥
 विरायैष मया प्राप्त आहारः सर्वतोऽधिकः ।
 भक्षयित्वा ततो वादे त्वां विन्नेष्यामि भूमिप ॥ ७३ ॥
 इत्युक्त्वा भक्षणोद्युक्तं पुनर्हेमाङ्गदोऽब्रवीत् ।
 ब्रह्मराक्षस मद्वाक्यं किञ्चिच्छृणु मया चितः ॥ ७४ ॥
 अपि किञ्चित् प्राप्य चैनं परित्यजसि तद्वद ।
 दत्त्वा तुभ्यं तदेनं तु भोजयामि सहोदरम् ॥ ७५ ॥
 इत्युक्तः प्राह भूयस्तं नृप स ब्रह्मराक्षसः ।
 शृणु राजन्नास्ति तद्वद किञ्चिद्येनं नमुलृजे ॥ ७६ ॥
 कः प्राणप्रियमाहारं त्यजेत् कालोपसङ्गतम् ।
 किन्त्वेकः समयो मेऽस्ति प्रश्ना मे हृदि संस्थिताः ॥ ७७ ॥
 तान्मे यदि प्रतिब्रूयास्तत्ते भ्रातरमुल्मूजे ।
 ततो हेमाङ्गदः प्राह पृच्छ तान् संवदामि ते ॥ ७८ ॥

हे ब्रह्मराक्षस ! इसके बाद यदि तुम किसी आदमी को खाओग तो मुझारा मुँह नल जायेगा ।' फिर मैंने जब उनकी काफी बिनती की तब उन्होंने यह सुन्दर बर दिया ॥ ७०-७१ ॥

'आश्चर्य मे पराजित आदमी को तुम खा सकते हो इसीलिए आश्चर्य मे जिसे जीतता हूँ उसे मैं खा जाता हूँ ॥ ७२ ॥

बहुत दिनों के बाद राजन् ! मुझे यह सुन्दर आहार मिला है । पहले इसे खा लेता हूँ, बाद में तुम्हें जीतूँगा ॥ ७३ ॥

इतना कहकर वह हेमाङ्गद को खाने के लिए तैयार हो गया । यह देखकर हेमाङ्गद ने कहा—ब्रह्मराक्षस ! मेरी एक छोटी-सी बात सुनो—बन्धुओं, ऐसी कोई बात नहीं जो मैं तुम्हें दूँ और वह लेकर तुम इन्हें छोड़ दो । ७४ ७५ ॥

यह सुनकर ब्रह्मराक्षस ने कहा—राजन् ! सुनो ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसके बाद मे मैं इसे छोड़ दूँ ॥ ७६ ॥

भला इतने दिनों के बाद अपने प्रिय आहार को पाकर उसे कौन छोड़ना चाहेगा ? किन्तु मेरी एक बात है, मेरे घन मे कुछ सवाल है । यदि तुम उसका सही जवाब दे दोगे तो तुम्हारे भाई को छोड़ दूँगा ॥ ७७ ॥

तब हेमाङ्गद ने कहा—'पूछो, मैं उसका जवाब दूँगा ।' इतना सुनने के बाद

इत्युक्तो नृपपुत्रं तं पप्रच्छ ब्रह्मराक्षसः ।
 गूढप्रश्नान् क्रमेणैव तद्वक्ष्ये शृणु भागव ॥ ७९ ॥
 आकाशाद्वितता या स्यात् सूक्ष्मा च परमाणुतः ।
 सा किरूपा स्थिता कुत्र वदेतन्नृपपुत्रक ॥ ८० ॥
 वितता वितिराकाशात् सूक्ष्मा च परमाणुतः ।
 स्फुररूपा स्वात्मसंस्था शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८१ ॥
 एकापि साऽतिवितता कथं सूक्ष्मतरा भवेत् ।
 स्फुरत्त्वं किं किमात्मा च वदेतन्नृपनन्दन ॥ ८२ ॥
 कारणत्वाद्भि वितता सूक्ष्माऽग्राह्यत्वतोऽपि च ।
 स्फुरत्त्वमात्मा च चितिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८३ ॥
 स्थानं तदुपलब्धौ किं कथं वा सोपलभ्यते ।
 उपलब्ध्या च किं वा स्याद्वदेतन्नृपनन्दन ॥ ८४ ॥
 धीः स्थानमुपलब्धौ तु स्वैकाग्र्यात् सोपलभ्यते ।
 उपलब्ध्या जनिर्न स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८५ ॥
 धीः केयं समाख्याता तदैकाग्र्यं च कीदृशम् ।
 जनिर्वापि भवेत् का सा वदेतन्नृपनन्दन ॥ ८६ ॥

उस ब्रह्मराक्षस ने कई गम्भीर सवाल पूछे । गुनो परशुराम ! वह सवाल कहता हूँ ॥ ७८-७९ ॥

हे राजकुमार ! बतलाओ, वह कौन सी वस्तु है जिसका फैलाव आकाश से भी ज्यादा है और परमाणु से भी छोटा है ? उसका रूप कैसा है और वह कहाँ रहती है ? ॥ ८० ॥

गुनो ब्रह्मराक्षस ! वह वस्तु चिति है । चिदि आकाश से भी बड़ी और परमाणु से भी छोटी है । उसका रूप स्फुरण है । वह अपनी आत्मा में मौजूद है ॥ ८१ ॥

राजकुमार ! वह तो एक ही है, फिर एक साथ बहुत बड़ी और बहुत छोटी कैसे हो सकती है ? यह स्फुरण क्या है ? और फिर आत्मा क्या है ? बतलाओ ॥ ८२ ॥

गुन ब्रह्मराक्षस ! सबका कारण होने की वजह से बहुत बड़ी है और इन्द्रियग्राह्य न होने के कारण सबसे छोटी है । स्फुरण और आत्मा तो चिति का ही अपर नाम है ॥ ८३ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ, उसे पाने की जगह कहाँ है ? कैसे वह पायी जा सकती है ? और उसे पा लेने पर क्या होता है ? ॥ ८४ ॥

गुन ब्रह्मराक्षस ! उसे पाने की जगह बुद्धि है । एकाग्र मन से उसे पाया जाता है । उसे पा लेने पर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ८५ ॥

राजकुमार ! बतलाओ, बुद्धि किसे कहते हैं ? उसकी एकाग्रता कैसे होती है ? और जन्म लेना क्या है ? ॥ ८६ ॥

चित्तिर्जडयावृता धीः स्यादेकाग्र्यं स्वात्मविश्रमः ।
जनिर्देहात्मताबुद्धिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८७ ॥
कस्माच्चित्तेर्नोपलब्धिः केन वा सोपलभ्यते ।
जनिः कथं वा सम्प्राप्ता वदेतन्नृपनन्दन ॥ ८८ ॥
अविवेकान्नोपलब्धिर्वात्मना सोपलभ्यते ।
जनिः कर्तृत्वाभिमानाच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८९ ॥
कोऽविवेकस्तवया प्रोक्तस्तथात्मा वापि को भवेत् ।
को वा कर्तृत्वाभिमानो वदेतन्नृपनन्दन ॥ ९० ॥
अविवेकोऽपृथक्ज्ञानमात्मानं पृच्छ स्वात्मनि ।
तद्वासनाभिमानः स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९१ ॥
अविवेकः केन नश्येत् तस्य किं वा हि कारणम् ।
तस्यापि किं कारणं स्याद्वदेतन्नृपनन्दन ॥ ९२ ॥
विचारेण स नश्येद् वैराग्यं तस्य कारणम् ।
तत्कारणं दोषदृष्टिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९३ ॥
को विचारो भवेत् किं वा वैराग्यं सम्प्रवक्षते ।
दोषदृष्टिश्च का प्रोक्ता वदेतन्नृपनन्दन ॥ ९४ ॥

मुन ब्रह्मराक्षस ! जडता अर्थात् अविवेक से बिना कही गति-बुद्धि ही जनि है । अपनी आत्मा में डूबर जाना ही एकाग्रता है और देह में आत्मबुद्धि ही जन्म है ॥ ८७ ॥

राजकुमार ! तुम यह बतलाओ कि चित्ति मिलती क्यों नहीं ? यह साधन क्या है जिसके माध्यम से वह मिलती है ? और जन्म कैसे होता है ? ॥ ८८ ॥

ब्रह्मराक्षस मुनो ! अपनी नादानी की वजह से चित्ति नहीं मिलता है । यह तो जड ही मिल जाती है । काम करने के अहंकार से जन्म होता है । ८९ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ कि तुमने नादानी किसे कहा ? स्वयं-वर्णित आत्मा क्या है ? कर्तृपन का अभिमान क्या है ? ॥ ९० ॥

मुनो ब्रह्मराक्षस ! देह की आत्मा से अलग न समझना ही नादानी है । आत्मा क्या है ? इसे खुद से पूछो । 'मैं करता हूँ' ऐसा सोचना ही कर्तृपन का चमण्ड है ॥ ९१ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ, नादानी कैसे मिट सकती है ? उसका कारण क्या है ? और उस कारण का भी कोई कारण है क्या ? ॥ ९२ ॥

मुनो ब्रह्मराक्षस ! विचार करने से नादानी मिटती है । उसकी वजह विरक्ति है और विरक्ति का कारण विषयाँ में दोषदृष्टि है ॥ ९३ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ कि विचार क्या है ? विरक्ति किसे कहते हैं ? दोषदृष्टि क्या कहलाती है ? ॥ ९४ ॥

दृग्दृश्ययोः परोक्षातो दृश्ये तत्परिवर्जनम् ।
 दुःखबुद्धिः सा हि दृश्ये शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९५ ॥
 एतन् सर्वं केन भवेत् स वा कस्मादवाप्यते ।
 तत्र वा किं निदानं स्याद्वदतन्तृपनन्दन ॥ ९६ ॥
 देवतानुग्रहात् सर्वं भक्त्या सा हि समाप्यते ।
 निदानं सत्सङ्ग एव शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९७ ॥
 का देवता च सम्प्रोक्ता का च सा भक्तिरुच्यते ।
 सन्तश्च कीदृशाः प्रोक्ता वदतन्तृपनन्दन ॥ ९८ ॥
 देवता स्याज्जगद्वात्री भक्तिस्तत्परतोच्यते ।
 सन्तः शान्ता दयावन्तः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९९ ॥
 सदा बिभेति को लोके सदा दुःखपरोऽपि कः ।
 सदा दैन्ययुतः को वा वदतन्तृपनन्दन ॥ १०० ॥
 महाधनी सदा भीतो दुःखी बहुकुटुम्बवान् ।
 आशाग्रस्तः सदा दीनः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०१ ॥
 निर्भयः को भवेत्लोके निर्दुःखश्चापि को भवेत् ।
 अदीनः सर्वदा कः स्याद्वदतन्तृपनन्दन ॥ १०२ ॥

सुनो हे ब्रह्मराक्षस ! द्रष्टा और दृश्य को सही पहचान ही विचार है । दृश्य मे राग नहीं रखना ही विरक्ति या वैराग्य है । दृश्य में दुःखात्मक बुद्धि का होना ही दोषदृष्टि है ॥ ९५ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ कि ये सब हमें कैसे ? और तुमने जिन साधनों का उल्लेख किया है, वे भी कैसे मिलेंगे, उसका भी मूल कारण क्या है ? ॥ ९६ ॥

ब्रह्मराक्षस ! सुनो ये सब भगवान् की कृपा से होते हैं और भगवान् की कृपा तो उनकी भक्ति से होती है । भक्ति सत्संग से होती है ॥ ९६ ॥

राजकुमार ! बतलाओ, भगवान् किसे कहते हैं ? भक्ति क्या है ? सन्त किसे कहा जाता है ? ॥ ९८ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! संसार को धारण करनेवाला जो है वही तो भगवान् है । उनमें मन को लीन कर देना उनकी भक्ति है । शान्त और दयालु पुरुष सन्त है ॥ ९९ ॥

राजकुमार ! यह भी बतला दो, दुनिया में हमेशा कौन डरता रहता है ? कौन दुःख में डूबा रहता है ? और कौन दीनता में डूबा रहता है ? ॥ १०० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! धन की अधिकता के कारण लोग हमेशा डरते रहते हैं । अधिक परिवार वाला आदमी दुःखी रहता है । आशा में फँसा आदमी दीन बना रहता है ॥ १०१ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ, दुनिया में निडर कौन हो सकता है ? बिना दुःख के कौन है ? हमेशा दीनताशून्य कौन है ? ॥ १०२ ॥

निर्भयः सङ्गरहितो निर्दुःखो जितमानसः ।
 ज्ञातज्ञेयस्त्वदीनात्मा शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०३ ॥
 दुर्लभ्यः स्यात् को हि लोके विदेहो दृश्यते च कः ।
 निष्क्रियस्य क्रिया का स्याद्वदन्तनुपनन्दन ॥ १०४ ॥
 जीवन्मुक्तो हि दुर्लभ्यो विदेहो देहवानपि ।
 तत्क्रिया निष्क्रियस्योक्ता शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०५ ॥
 किमस्ति कि नास्ति लोके वोऽत्यन्तासम्भवी भवेत् ।
 एतावदुक्त्वा नृपते मोक्षय द्रुतमग्रजम् ॥ १०६ ॥
 दृग्स्ति नास्ति वै दृश्यं व्यवहारो ह्यसम्भवी ।
 उक्तमेतद्ब्रह्मरक्षो मुञ्च मदध्मातरं द्रुतम् ॥ १०७ ॥
 श्रुत्वैतदथ सन्तुष्टो मुमोच ब्रह्मराक्षसः ।
 रुक्माङ्गदं ततः पश्चादभवद्ब्राह्मणो हि मः ॥ १०८ ॥
 तेजस्विनं तपोमूर्तिं दृष्ट्वा ब्राह्मणरूपिणम् ।
 पप्रच्छतु राजसुतौ को भवानिति शङ्कितौ ॥ १०९ ॥

हे ब्रह्मराक्षस ! सुनो, जिसे किसी में कोई अनुरक्ति नहीं है, वह हमेशा जितर रहता है । मन पर जिसका अधिकार है वह सदैव सुखी रहता है और जानने योग्य वस्तु को जिसने जान लिया है उसमें दीनता नहीं रहती । १०३ ॥

राजकुमार ! तो फिर यह भी बतला दो कि ससार में बड़ी कठिनाई से जिसे पहचाना जाय वह कौन है ? देह के बिना भी कौन दिखलायी रता है ? जिसमें कोई क्रिया न हो उसकी क्रिया क्या है ? ॥ १०४ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! जो जीवित दशा में ही आत्मज्ञान द्वारा सागारिक साया-गन्धन से छूट गया हो, ऐसे वीतराग की पहचान बड़ी कठिन है । वही दही होकर भी विदेह है और उसकी क्रिया को ही निष्क्रियकी क्रिया कहते हैं ॥ १०५ ॥

संसार में कौन-सी वस्तु है और कौन-सी नहीं है ? तथा विष्कुरु असम्भव क्या है ? राजन् ! नय, इतना बतला देने पर मैं तुम्हारे भाई को तुरन्त ही छोड़ दूंगा ॥ १०६ ॥

ब्रह्मराक्षस ! द्रष्टा चेतन है और दृश्य नहीं है तथा व्यवहार असम्भव है । इस तरह मैंने तुम्हारे इस सवाल का भी जवाब दे दिया । अब गुम मेरे भाई को जल्द छोड़ दो ॥ १०७ ॥

यह सब सुनकर ब्रह्मराक्षस बड़ा खुश हुआ और उसने रुक्माण्ड को छोड़ दिया । इसके बाद वह भी ब्रह्मराक्षस से ब्राह्मण बन गया ॥ १०८ ॥

उस ब्रह्मराक्षस को एक तेजस्वी तपःपूत ब्राह्मण के रूप में देखकर राजकुमारों ने सशंक होकर पूछा—आप कौन हैं ? ॥ १०९ ॥

अथ प्राह ब्राह्मणाग्र्यः स्ववृत्तं वै यथातथम् ।
 अहं पुरा ब्राह्मणस्तु मगधेष्वभिविधृतः ॥ ११० ॥
 वसुमानिति विख्यातः सर्वशास्त्रविशारदः ।
 सभासु निजिता भूयो मया विद्याभिमानीना ॥ १११ ॥
 विद्वांसः शतशो विप्रास्ततोत्यन्तमुगवितः ।
 कदाचिन्मगधेशस्य सभायामष्टकं मुनिम् ॥ ११२ ॥
 परावरजं संशान्तं वादार्थी सङ्गतोऽभवम् ।
 शुष्कतर्कैकनिपुण आत्मविद्याविचारणे ॥ ११३ ॥
 ततो मया स आक्षिप्तः केवलं तर्कशुक्तिभिः ।
 समाधानवचस्तस्य ब्रह्मगमसुबंहितम् ॥ ११४ ॥
 दूषयित्वा तर्कजालैरधिकोपपरोऽभवम् ।
 अधिकिक्षितोऽपि बहुधा मया राजमभागतः ॥ ११५ ॥
 शान्तस्तूष्णीं बभूवाथ शिष्यस्तस्य महात्मनः ।
 काश्यपो मां क्रोधवशाच्छाप नृपसंसदि ॥ ११६ ॥
 आचार्य मेऽधिकक्षिपसि त्वमस्थाने द्विजाधम ।
 यतस्तस्मान्चिरं कालं ब्रह्मरक्षो भविष्यसि ॥ ११७ ॥
 शप्त एवमहं तेन भीतोऽत्यन्तं तदा मुनिम् ।
 वेपमानः प्रणम्याशु चाष्टक शरणं गतः ॥ ११८ ॥

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने जस-के-तस अपनी कहानी सुना दी । मगध देश में पहले मैं एक सुप्रसिद्ध ब्राह्मण था ॥ ११० ॥

मेरा नाम वसुमान था । मैं सकल शास्त्रों में प्रवीण था । विद्या का मुझे बड़ा अभिमान था । सभा में मैंने सैकड़ों विद्वान् ब्राह्मणों को पराजित किया था । इससे मैं काफी घमंडी हो गया था ॥ १११ ॥

किसी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए मैं सदैव उत्सुक बना रहता था । मैं शुष्क तर्क करने में बड़ा निपुण था । मगधनरेश की सभा में एक बार मेरा शास्त्रार्थ अष्टक मुनि के साथ हुआ । विचारणीय विषय था—‘आत्मविद्या’ । मुनिजी परमार्थ-तत्त्ववेत्ता और बड़े ही शान्तचित्त थे ॥ ११२-११३ ॥

शुष्क तर्क के सहारे बहुत देर तक मैं उनके मत का खण्डन करता रहा । उनके शास्त्रसम्मत सप्रमाण कथन को मैं शुष्क तर्क से बार-बार काटता रहा ॥ ११४ ॥

उरा राजमभा में मैं लगातार उन पर दोषारोपण करता रहा, फिर भी वे शान्त होकर चुप लगा गये । पर उनके शिष्य काश्यप से मेरी यह ज्यादती बर्दाश्त नहीं हुई । उन्होंने मुझे आप दे दिया ॥ ११५-११६ ॥

अरे नीच ब्राह्मण ! तुमने बेबजह ही मेरे गुरु का अपमान किया है । अतः तुम बहुत दिनों तक ब्रह्मरक्षक बनकर रहो ॥ ११७ ॥

भयि सोऽथ दद्यान्त्रके विरोधिन्यपि शान्तधीः ।
 शापस्यान्तं वदौ मह्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ११९ ॥
 प्रश्नास्त्वयापि हि कृतान् प्रत्युक्तांश्च मया हि तान् ।
 स्थापितान् केवलैस्तर्कैर्वदैकः प्रतिवक्ष्यति ॥ १२० ॥
 कश्चिद्विद्वांस्तदा शापाद्विमुक्तस्त्वं भविष्यसि ।
 तच्छापादथ ते मुक्तश्चिराय नृपनन्दन ॥ १२१ ॥
 तत्त्वां मन्ये महात्मानं ज्ञातज्ञेयं नृपुत्तमम् ।
 इत्युक्तस्तेन विप्रेण विस्मितोऽभून्नृपात्मजः ॥ १२२ ॥
 ततो भूयो नृपमुतोऽनुयुक्तस्तेन सर्वशः ।
 वसुमन्तं बोधयित्वा सम्यक् प्रागात् पुरं स्वकम् ॥ १२३ ॥
 प्रमम्य वसुमन्तं तं सहितो भ्रातृसैनिकैः ।
 एतत्ते सर्वमाख्यात यत् पृष्टं भार्गव त्वया ॥ १२४ ॥
 इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे राक्षसोपाख्यान एकविंशोऽध्यायः ।

उमका दाहण श्राप सुनकर मैं बुरी तरह डर गया । कोई दूसरा चारा न देखकर
 थर-थर काँपते हुए अष्टक मुनि को ही प्रणाम कर उनकी शरण में चला गया ॥ ११८ ॥
 मुनि शान्तचित्त थे । मैंने उनका विरोध किया था, फिर भी उन्होंने मुझ पर
 दया की । उन्होंने उस श्राप का अन्त कैसे किया, मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ॥ ११९ ॥
 तुमने मुझसे प्रश्न किया, जिसका मैंने उचित समाधान कर दिया । फिर भी
 तुमने अपने शुष्क तर्कों से इन प्रश्नों को खड़ा रखा है । अतः यदि कोई एक ही विद्वान्
 तुम्हारे इन तर्कों का समाधान कर देगा; तब तुम श्रापमुक्त हो जाओगे ॥ १२० ॥
 राजकुमार ! बहुत समय बीत जाने के बाद तुमने मुझे उम श्राप से मुक्त कराया
 है । अतः मैं तुम्हें महात्मा, ज्ञात और ज्ञेय सम्प्रदायी हूँ । राजाओं में तुम सर्वश्रेष्ठ
 राजा हो ॥ १२१-१२२ ॥

उस ब्राह्मण की बातें सुनकर राजकुमार को बड़ा ही आश्चर्य हुआ । उस वसुमान्
 नामक ब्राह्मण ने राजकुमार से फिर अनेक प्रश्न पूछे । राजकुमार ने सभी प्रश्नों
 का सही समाधान कर दिया । फिर उस वसुमान् ब्राह्मण को प्रणाम कर अपने भाई
 और सैनिकों के साथ राजधानी लौट गया । परशुराम ! तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर
 मैंने दे दिया ॥ १२३-१२४ ॥

इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ।

द्वाविंशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं राक्षसकथां रामो भृगुकुलोद्भवः ।
 पुनः पप्रच्छावधूतकुलेशं प्रश्रयाश्रयः ॥ १ ॥
 भगवन् किं तेन पृष्टं शापमुक्तद्विजेन वै ।
 हेमाङ्गदेन किं प्रोक्तमेतन्मे कृपया वद ॥ २ ॥
 कौतुक्यत्यन्तमत्राहं न तदल्पं भवेत् क्वचित् ।
 इति पृष्टः पुनः प्राह दत्तात्रेयो दयापरः ॥ ३ ॥
 राम तत्ते प्रवक्ष्यामि महार्थं तत् प्रभाषितम् ।
 ततः पप्रच्छ वसुमान् हेमाङ्गदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥
 राजपुत्र किञ्चिदहं पृच्छामि त्वं समीरय ।
 अहमष्टकयोगीशान् तदज्ञासिषमादितः ॥ ५ ॥
 भूयस्त्वदुक्त्या च सम्यग् विदितं परमं पदम् ।
 किन्तु ते ज्ञाततत्त्वस्य कथं स्थितिरियं भवेत् ॥ ६ ॥
 कथं ज्ञातसुविज्ञेयो व्यवहारपरायणः ।
 ध्वान्तप्रकाशयोर्यद्वत् स्थितिरेकत्र सम्भवेत् ॥ ७ ॥

(वसुमान् का समाधान एवं ग्रन्थ का सारांश)

इस तरह ब्रह्मराक्षस की कहानी सुनकर भृगुवंश में उत्पन्न परशुराम ने विनया-
 वनत हो अवधूतशिरोमणि दत्तात्रेयजी से पुनः पूछा ॥ १ ॥

भगवन् ! शापमुक्त उस ब्राह्मण ने क्या पूछा था ? और हेमाङ्गद ने उसका उत्तर
 क्या दिया ? कृपया मुझे बतलायें ॥ २ ॥

इसके बारे में मुझे काफी कुतूहल है । यह कभी कोई छोटी बात नहीं हो सकती ।
 यह सुनकर दयालु दत्तात्रेय ने कहना प्रारम्भ किया ॥ ३ ॥

परशुराम ! यह संवाद गम्भीर अर्थ से भरा है, जो मैं तुम्हें सुनाता हूँ । समीप
 में बैठे हेमाङ्गद से वसुमान् ने पूछा ? ॥ ४ ॥

राजकुमार ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ । कृपया आप स्पष्ट बतलायें ।
 शुरु में मैंने योगिराज अष्टक से यह तत्त्व सुना था ॥ ५ ॥

अब आपके मुँह से उस परमपद की बातें सुनकर अच्छी तरह उसका ज्ञान मुझे
 हो गया । परन्तु आप तो तत्त्वज्ञ हैं; आपकी स्थिति ऐसी क्यों है ? ॥ ६ ॥

जिसने जानने योग्य वस्तु की जानकारी हासिल कर ली है, वह फिर दुनियादारी
 में कैसे लगा रह सकता है ? यह तो अन्धकार और प्रकाश के एक साथ रहने जैसी
 बात ही होगी ॥ ७ ॥

एतन्मे राजतनय ब्रूहि सम्यग् यथास्थितम् ।
 इत्यापृष्टः प्राह हेमाङ्गदस्तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥ ८ ॥
 ब्रह्मन् ते भ्रान्तिरद्यापि न सम्यक् प्रविनाशिता ।
 व्यवहारेण किं ज्ञानं बाध्यते स्वात्मसम्भवम् ॥ ९ ॥
 व्यवहारवशाज्ज्ञानं बाध्यते च ततः कथम् ।
 पुरुषार्थस्य लाभः स्यात् स्वप्नज्ञानसमेन वै ॥ १० ॥
 सर्वोऽपि व्यवहारोऽयं ज्ञानमाश्रित्य सम्भवेत् ।
 तज्ज्ञानं बाध्यते तेन कथं तन्मे समीरय ॥ ११ ॥
 ज्ञानं तदेव हि भवेद् यत्रेदं भासते जगत् ।
 सङ्कल्पाद् व्यवहारो हि जाने सर्वं प्रकाशते ॥ १२ ॥
 असङ्कल्पेन तद्रूपमनुलक्ष्य धिया सकृत् ।
 कृतार्थो बन्धनिर्मुक्तो भवतीति सुनिश्चयः । १३ ॥
 तस्माद् ब्रह्मन् ते प्रश्नः सम्मतोऽयं सुबुद्धिभिः ।
 पुनस्तं प्राह वसुमान् नृपसूनु महाशयम् ॥ १४ ॥
 सत्यं राजकुमारैतन्मयापीत्य सुनिश्चितम् ।
 स्वरूपं निर्विकल्प हि सवेदनमिहोच्यते ॥ १५ ॥
 सविकल्पत्वमापन्ते पुनर्भ्रान्तिः कुतो न हि ।
 विकल्प एव हि भ्रान्तिर्यथा रज्जौ भुजङ्गमः ॥ १६ ॥

राजकुमार ! इसका जो कुछ भी कारण हो वह मुझे हन्ब हूँ समझा दें । ऐसा पूछने पर हेमाङ्गद ने उस श्रेष्ठ ब्राह्मण से कहा ॥ ८ ॥

ब्राह्मणदेवता ! आपका भ्रम अभी भी नहीं गया है । अपनी आत्मा के रूप में रहनेवाला ज्ञान भला व्यवहार से बाधित हो सकता है ? ॥ ९ ॥

यदि किसी व्यवहार से ज्ञान बाधित हो जाय, तो सपने के ज्ञान और जाग्रत ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जाय ॥ १० ॥

ये सारे-के-सारे व्यवहार तो ज्ञान के सहारे ही होते हैं । फिर उसी से यह बाधित कैसे हो जायेगा ॥ ११ ॥

जिसमें सारी दुनिया दीख रही है, वही तो ज्ञान है । सिर्फ विकल्प में ज्ञान में ही जो सारे व्यवहार के दर्शन होते हैं ॥ १२ ॥

हाँ ! यह बात बिल्कुल निश्चित है, कामनाशून्य होकर एक बार उस आत्मा के स्वरूप को लक्ष लेने पर जीव बन्धनमुक्त होकर कृतार्थ हो जाता है ॥ १३ ॥

अतः हे ब्राह्मणदेवता ! 'बुद्धिमानों को आपका यह प्रश्न मान्य नहीं है ।' तब वसुमान् ने उदारमना राजकुमार से पुनः पूछा ॥ १४ ॥

राजकुमार ! यह बात ठीक है और मैंने भी ऐसा ही निश्चय किया है । शुद्ध-चित्ति ही अपना निर्विकल्प स्वरूप कहा गया है । यही यथार्थ भी है ॥ १५ ॥

शृणु ब्रह्मन् न जानासि भ्रमाभ्रमविनिर्णयम् ।
 गगने नीलिमा भाति गगनं जानतामपि ॥ १७ ॥
 व्यवहारं च कुर्वन्ति नीलं नभ इति क्वचित् ।
 तावतैव तु तज्ज्ञानं न भ्रान्तिरभिधीयते ॥ १८ ॥
 अतस्त्वजे हि सा भ्रान्तिस्तत्त्वज्ञ सा प्रमेव हि ।
 हतप्रामाण्यजीव तज्ज्ञानं मृतमहाहिवत् ॥ १९ ॥
 दर्पणप्रतिबिम्बस्य व्यवहारसमो भवेत् ।
 अभिज्ञस्यानभिज्ञस्य चाप्यतोऽग्नि भिदा तयोः ॥ २० ॥
 ज्ञस्य प्रमेव तज्ज्ञानमज्ञस्य तु भ्रमात्मकम् ।
 ज्ञानिनां ज्ञानमेव स्यात् सर्वोऽपि व्यवहारकः ॥ २१ ॥
 दर्पणप्रतिबिम्बानां व्यवहारेण सम्मितः ।
 अभिज्ञानामतो भूयो न हि भ्रान्तेः समुद्भवः ॥ २२ ॥
 केवलाज्ञानजनितं ज्ञानेन विनिवर्तते ।
 दोषेण जनितं कस्माद्विलीयेज्ज्ञानमात्रतः ॥ २३ ॥
 अत एव तैमिरिकः पश्येज्ज्ञानन्नपि द्वयम् ।
 जगदाभास एषस्तु कर्मदोषसमुद्भवः ॥ २४ ॥

किन्तु ! वह यदि सविकल्प हो जाय तो फिर भूल क्यों न होगी ? जैसे होरी में कभी-कभी साँप का भ्रम हो जाता है, उसी तरह 'विकल्प' तो भ्रान्ति का स्वरूप है ही ॥ १६ ॥

सुनो ब्रह्मन् ! सच तो यह है कि भ्रम और निभ्रम के बीच आप ठीक से भेद भी नहीं कर पा रहे हैं । जो लोग आकाश को जानते हैं, उन्हें भी तो उसकी नीलिमा दिखलायी ही देती है । आकाश नीला है — ऐसा कहकर उन्हें व्यवहार करते भी देखा जाता है । किन्तु इतने से ही उनके ज्ञान को भ्रम तो नहीं कहा जा सकता ॥ १७-१८ ॥

अज्ञानी में आकाश की नीलिमा का ज्ञान भ्रान्ति ही है, किन्तु ज्ञानियों में तो ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान ही है । उनका यह ज्ञान प्रामाण्य रूप जीवन से रहित होने के कारण मरे हुए साँप की तरह किसी अनर्थ का कारण नहीं बनता ॥ १९ ॥

ज्ञानियों का कामकाज आईने में परछाई की हलचल की तरह होता है । अतः ज्ञानी और अज्ञानियों के कार्य-कलापो में भेद तो है ही ॥ २० ॥

ज्ञानियों का व्यावहारिक ज्ञान तो यथार्थ है । परन्तु अज्ञानियों का ज्ञान भ्रम है । ज्ञानियों के लिए सारा व्यवहार भी तो ज्ञानस्वरूप ही है ॥ २१ ॥

उनके लिए यह ज्ञान आईने में परछाई की तरह व्यावहारिक होता है । यही कारण है कि ज्ञानियों को फिर भ्रान्ति नहीं होती ॥ २२ ॥

केवल अज्ञान से उत्पन्न का ही विनाश ज्ञान से होता है । किन्तु जिनकी उत्पत्ति किसी अन्य दोष के कारण हुई हो, वह केवल ज्ञान से नहीं नष्ट हो सकते ॥ २३ ॥

तस्मादाकर्म्मत्रिलयं व्यवहारो न लीयते ।
 समाप्ते कर्मणि ततः शिष्येदद्वयचिन्मयम् ॥ २५ ॥
 तस्मान्नास्त्येव विज्ञानं कदापि भ्रान्तिसम्भवः ।
 इति श्रुत्वा पुनर्विप्रः पप्रच्छ नृपनन्दनम् ॥ २६ ॥
 अहो नृपात्मज कथं ज्ञानिनां कर्म सम्भवेत् ।
 ज्ञानाग्निस्पर्शेनऽपि कर्मतूलः कथं स्थितः ॥ २७ ॥
 अथाहं हेमाङ्गदोऽपि विप्रं तं नृपनन्दन ।
 ब्रह्मन् शृणु प्रवक्ष्यामि त्रिविधं कर्म ज्ञानिनाम् ॥ २८ ॥
 सर्वेषाञ्च समानं स्यादपक्वं पक्वमेव च ।
 हृतोदितं चेति तत्र नैस्येज्ज्ञानादमध्यमम् ॥ २९ ॥
 कर्मणा पाचकः कालो नियत्या नियतः स्थितः ।
 कालेन पाचितप्रायं पक्वं कर्म समीरितम् ॥ ३० ॥
 अपाचितमपक्वं स्याज्ज्ञानोत्पत्तेरतन्तरम् ।
 कृतं हृतोदितं विद्धि ज्ञानाद्धतसमुद्भवात् ॥ ३१ ॥
 तत्र पक्वं तु यत् कर्म तदारब्धमितीर्यते ।
 आवेगं मुक्तशरवन् तिष्ठत्येव फलप्रदम् ॥ ३२ ॥

यही वज्रह है कि स्तौषी से पीडित आदमी यह जानते हुए कि वस्तु एक है उसे दो रूप में देखता है । इस दुनिया में असल की शक्त तो कर्मदोष से पैदा हुई है । इसलिए जब तक कृतकर्म से उत्पन्न भाग्य का भय नहीं हो जाता, तब तक इस व्यवहार का त्रिलय नहीं होता । प्रारब्ध कर्म के चिन्तित होने ही कावल चिन्मात्र तत्त्व ही शेष रह जाता है ॥ २४-२५ ॥

इसलिए इस विशिष्ट ज्ञान में भूल की सम्भावना कभी हो नहीं सकती । ऐसा मुनकर उस ब्राह्मण ने राजकुमार से पूछा ॥ २६ ॥

हे राजकुमार ! ज्ञानियों से भला कर्म की सम्भावना कैसे हो सकती है ? ज्ञान रूपी आग के छू लेने पर कर्मरूपी कपास बिन जले कैसे रह सकती है ? ॥ २७ ॥

राजकुमार हेमाङ्गद बोला — सुनी ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें बतलाता हूँ सभी ज्ञानियों के कर्म समान रूप से तीन तरह के होते हैं — अपक्व, पक्व और हृतोदित । इनमें बीच के पक्व को छोड़कर शेष दो स्वतः चिन्तित हो जाते हैं ॥ २८-२९ ॥

नियति ने काल को कर्मों को पकाने वाला नियुक्त किया है । जो कर्म काल के द्वारा प्रायः पकाकर फलोन्मुख कर दिये जाते हैं, वे 'पक्व' कर्म कहे गये हैं ॥ ३० ॥

जो अपक्व नहीं हुए हैं, वे अपक्व हैं और जो कर्म ज्ञानोत्पत्ति के बाद किये जाते हैं, उन्हें हृतोदित समझो, क्योंकि वे ज्ञान से हत अर्थात् मरे हुए ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥

तन्मूलको जगद्भासो ज्ञानस्य तारतम्यतः ।
 स्थितोऽपि भ्रान्तिनृत्योपि न भ्रान्तिः फलभेदतः ॥ ३३ ॥
 जनयेत्तत्कालफलं मन्दज्ञानवतां स्फुटम् ।
 मध्यानामस्फुटं तच्च ज्ञानिनां फलभासनम् ॥ ३४ ॥
 उत्तमानान् तत्कालफलञ्च स्पष्टभासनम् ।
 शशशृङ्गसमं ब्रह्मन् न हि नत्फलमुच्यते ॥ ३५ ॥
 अज्ञानिनां कर्मफलं पुष्टं पूर्णानुसन्धितः ।
 पूर्वापरानुसन्धानात् पोषितं तत्फलन्तु तैः ॥ ३६ ॥
 ज्ञानिनां फलसन्धानं छिन्नमात्मानुसन्धितः ।
 अतो न पुष्टं मन्दानामारब्धजनितं फलम् ॥ ३७ ॥
 मध्यानां ज्ञानिनां तच्च फलं मन्दमुपुष्टिषु ।
 मशकादिकृतं दुःखमिव तत् सूक्ष्मतां गतम् ॥ ३८ ॥
 उत्तमज्ञानिनां तत् फलं पूर्णमपि स्थितम् ।
 दग्धरज्जुरिव भवेत् स्थितात्मज्ञानवैभवात् ॥ ३९ ॥

इनमें जो परिपक्व कर्म हैं वे प्रारब्ध अर्थात् नियति या भाग्य कहलाते हैं। वे घनुष से छूटे हुए तीर की तरह अपना वेग रहने तक फल देते ही रहते हैं ॥ ३३ ॥
 ज्ञान की कमी-बेसी के मुताबिक उन्हीं की वजह से दुनिया की प्रतीति बनी रहती है। यह संसार की प्रतीति भ्रान्ति की तरह होने के बावजूद फल में भेद रहने के कारण भ्रान्ति नहीं है ॥ ३३ ॥

मन्द ज्ञानियों को यह प्रारब्ध उसी क्षण फल देता है और मध्यम ज्ञानियों को उस फल का बोध स्पष्ट मालूम पड़ता है ॥ ३४ ॥

उत्तम ज्ञानियों को फल की जानकारी तो उन्हीं समय हो जाती है। किन्तु हे ब्रह्मन् ! उनकी दृष्टि में वह खरहे के सींग की तरह मफेद झूठ होने के कारण उसे फल नहीं मानते ॥ ३५ ॥

अज्ञानियों को कर्मफल का अनुशीलन पहले से ही बना रहता है। इसलिए वह तैयार या मजबूत होता है। आगे पीछे का अनुशीलन रहने के कारण वे उस फल को बढ़ाते रहते हैं ॥ ३६ ॥

ज्ञानीजन अपनी आत्मा की खोज में लगे रहते हैं। फलतः बीच-बीच में उनके कर्मफल की जाँच पड़ताल का क्रम टूटता रहता है। इसीलिए मन्द ज्ञानियों का भाग्यफल मजबूत नहीं होता ॥ ३७ ॥

मध्यम दर्जे के ज्ञानियों के लिए तो वह फल हलकी नींद में मच्छर काटने से होनेवाले दुःख की तरह बहुत कम तकलीफदेह होता है ॥ ३८ ॥

उत्तम ज्ञानियों को यह कर्मफल पूरी तरह प्राप्त होने पर भी दृढ़ आत्मज्ञान की वजह से जली हुई रस्सी की तरह केवल प्रतीति मात्र रहती है ॥ ३९ ॥

यथा नाटकवृत्तेषु नरो वैषम्यन्तरं गतः ।
 हृष्यन् विषीदश्च भूयो नान्तः विकृतिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥
 एवमेष स्थितजानी मुपूर्णफलसङ्गतः ।
 न फलैः स्पृश्यते तस्मात्तत्फलं गणयद्भवत् ॥ ४१ ॥
 अज्ञानिभिस्तु शुद्धात्मा नोपलक्षित एव हि ।
 अतो देहात्मभूतास्ते दृश्यसत्त्वविमर्शनाः ॥ ४२ ॥
 मन्दज्ञानिभिरात्मा तु विदितः शुद्धचिन्मयः ।
 जगच्चासत्यतो दृष्टं तथाप्यभ्यासमान्द्यतः ॥ ४३ ॥
 प्राग्वासनाहृतज्ञानास्ते देहात्मप्रभासनम् ।
 जगतः सत्यताभासं मध्ये मध्ये समाश्रयुः ॥ ४४ ॥
 भूयो ज्ञानवासना या विधुन्वन्त्यसतो दृशम् ।
 वासनैवं सत्यमिथ्याज्ञानयोश्च परस्परम् ॥ ४५ ॥
 मिलिता मन्दज्ञानिनामतो मध्यं फलं स्फुटम् ।
 समेऽपि वासने चैते न हि तुल्ये महीसुर ॥ ४६ ॥
 सत्यज्ञानवासनया बाध्यते वासना परा ।
 न च मिथ्या वामनया बाध्यते सत्यवामना ॥ ४७ ॥

जैसे एक अभिनेता मंच पर अनेक वेश बनाकर हर्ष और शोक की भूमिका निभाने के बावजूद भीतर से उस अभिनय के प्रभाव से मुक्त रहना है, उसी तरह एक निष्ठावान् जानी पूरा का पूरा फल पाने पर भी उससे लीन नहीं होता । इसलिए उसका यह फलभोग भी सरह के सींग की तरह केवल कहने भर ही होता है ॥ ४०-४१ ॥

अज्ञानियों को तो विद्युद्देह आत्मा का पता ही नहीं चलता, इसलिए वे तो देह को ही आत्मा मानते हैं और दृश्य पदार्थों को भ्रम समझते हैं ॥ ४२ ॥

मन्दज्ञानियों को तो शुद्ध चिन्मय आत्मा का ज्ञान होना है और दुनिया भी उस झूठी दिख गयी देती है । फिर भी अभ्यास की जमीन कारण पहले की वासना में उनका ज्ञान दब जाता है और देह को ही वे आत्मा के रूप में देखते लगते हैं । योंच बीच में उन्हें मसार की सत्यता का भी बोध होता रहता है ॥ ४३-४४ ॥

किन्तु उनके ज्ञानजल्य सहकार उनकी इस झूठी परत को दूर कर देते हैं । इस तरह उनके सब और झूठ का ज्ञान आपस में मिलकर बीच-बीच में साफ ढग से फल का भोग कराते हैं ॥ ४५-४६ ॥

हे घरती के देवता ! यद्यपि ये जानों ही सत्त्वार समान रूप से आनन्द जाते रहते हैं, फिर भी इनका प्रभाव एक जैसा नहीं रहता । ज्ञान की वामना सच है, अतः उससे दृश्य की मिथ्या वासना जिस बाधित होती है, उसी तरह मिथ्या वासना से सत्य को वामना बाधित नहीं होती ॥ ४६-४७ ॥

मिथ्यावासनयाविष्टो विस्मृतः केवलां परः ।
 ततो मिथ्यावासना तु विनिश्चित्य घ्नमात्मिकाम् ॥ ४८ ॥
 विधूय चासना सत्यामुपैति ब्राह्मणोत्तम ।
 ततो न बाधिता सत्यवासना भवति क्वचित् ॥ ४९ ॥
 मध्यमस्य विस्मृतिर्नो न मिथ्या ज्ञानमेव च ।
 अविस्मृतस्येच्छयैव मिथ्याज्ञानं क्वचिन्नूवेत् ॥ ५० ॥
 सिद्धस्यैवा स्थितिः प्रोक्ता साधकस्यान्वयेते शृणु ।
 यथा यथा तत्परः स्यात्तथाऽविस्मृतिरुचिच्छ्रिता ॥ ५१ ॥
 पूर्णस्य विस्मृतिर्नास्ति मिथ्याज्ञानं प्रसक्ततः ।
 उत्तमस्य पुनर्ब्रह्मान् समाधिर्व्यवहारयोः ॥ ५२ ॥
 न भेदो लक्षणोऽप्यस्ति यतोऽविस्मरणं सदा ।
 यः समाधिपरो मध्यमतस्य साऽविस्मृतिः स्थिता ॥ ५३ ॥
 सैषा श्लाना भवेन्मिथ्याज्ञानभूमिषु भूसुर ।
 यस्तूतसोऽपि स्वाच्छन्द्यात्प्रारब्धवशातोऽपि वा ॥ ५४ ॥
 समाध्यतत्परो भूयात्तस्याश्लानैव चास्मृतिः ।
 वस्तुतः शृणु भूदेव मध्यमोत्तमज्ञानिनाम् ॥ ५५ ॥

विद्वन्वर ! यह मिथ्या वासना के अधीन होकर गुरु वासना को भूल जाता है ।
 फिर उस मिथ्या वासना को घ्नम मानकर उसे तोड़ देता है और सत्य रूप आन-
 वासना को पा लेता है । इसके बाद उसकी यह सत्य वासना कभी बाधित नहीं
 होती ॥ ४८-४९ ॥

मध्यम दर्जे के ज्ञानी को सत्य वासना कभी भ्रमार्ता नहीं और मिथ्या ज्ञान होता
 ही नहीं । वे सत्य वासना को बिना भ्रुलाये ही कभी-कभी अपनी इच्छा से व्यवहार के
 उपयुक्त मिथ्या ज्ञान भी कुबूल कर लेते हैं ॥ ५० ॥

औमत दर्जे के मिट्टे ज्ञानी की हों यह स्थिति होती है । अब मैं तुम्हें साधक की
 स्थिति के बारे में समझाता हूँ, मुनो साधक जेमे-जेमे अपने आत्मा की खोज में
 लगता है उसी अनुपात में उसे अपने असली स्वरूप की याद बढ़ती जाती है । माधना
 पूरी होने पर तो अपने वास्तविक स्वरूप को वह कभी भूला ही नहीं पाता और
 मिथ्या हैत का स्फुरण तो काफी प्रयास के बाद ही होता है ॥ ५१ ॥

अपने स्वरूप की याद हमेशा बनी रहने के कारण उत्तम ज्ञानी को समाधि और
 व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता ॥ ५२ ॥

समाधि में लीन मध्यम ज्ञानी को ही अपने स्वरूप की पहचान में थोड़ी भूल
 होती है । वह मिथ्या अज्ञान की स्थिति आने पर ही कुछ मन्द पड़ जाती है किन्तु
 जो उत्तम ज्ञानी है वे अपनी इच्छा में अथवा भाग्य के अधीन होने पर ही यदि वे
 समाधि में लीन न रहें तो उसे अपने स्वरूप की पहचान में भूल नहीं होती ॥ ५३-५४ ॥

कर्म नैवास्ति यत्किञ्चिद्यतस्ते पूर्णतां गताः ।
 संविदात्मातिरिक्तं यन्न ते पश्यन्ति किञ्चन ॥ ५६ ॥
 कर्म शेषं कथं शिष्येद्यतः सर्वं चिदग्निना ।
 भस्मीकृतमतस्तेषां न किञ्चित् परिशिष्यते ॥ ५७ ॥
 ऐन्द्रजालिककर्मैव त्वितरैरेव दृश्यते ।
 शृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि समामतः ॥ ५८ ॥
 शिवस्य यादुक्षी सैव ज्ञानिनां दृष्टिश्चक्षते ।
 नास्ति भेदो लेशतोऽपि सत्यमेतन्न सशयः ॥ ५९ ॥
 तस्माच्च किञ्चित् कर्मापि ज्ञानिवामनुवर्तते ।
 इति श्रुत्वा स बभुमान् हेमाङ्गदतिरूपितम् ॥ ६० ॥

स्मिन्दर्शनं पुनः

विज्ञानं - ५६, ५७

तुल्यतां प्राप्तुं यत्नः सन्त्यक्तः । ५६ ॥
 प्राप्तां सन्त्यक्तः सत्कृपयादौ ॥ ५७ ॥
 एवं श्रुत्वा पुनः यत्नः सत्कृपयादौ ॥ ५८ ॥
 नृनपेक्षति । ५९ ॥
 इत्येतो सः कश्चिन्मिदं ॥ ६० ॥
 यमनृप्युत्तमं रात्रिपराय ॥ ६१ ॥

संविदात्मातिरिक्तं यन्न ते पश्यन्ति किञ्चन ॥ ५६ ॥
 कर्म शेषं कथं शिष्येद्यतः सर्वं चिदग्निना । ५७ ॥

भस्मीकृतमतस्तेषां न किञ्चित् परिशिष्यते ॥ ५७ ॥
 ऐन्द्रजालिककर्मैव त्वितरैरेव दृश्यते । ५८ ॥
 शृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि समामतः ॥ ५८ ॥

शिवस्य यादुक्षी सैव ज्ञानिनां दृष्टिश्चक्षते । ५९ ॥
 नास्ति भेदो लेशतोऽपि सत्यमेतन्न सशयः ॥ ५९ ॥
 तस्माच्च किञ्चित् कर्मापि ज्ञानिवामनुवर्तते । ६० ॥

इति श्रुत्वा स बभुमान् हेमाङ्गदतिरूपितम् ॥ ६० ॥
 स्मिन्दर्शनं पुनः ॥ ६१ ॥
 विज्ञानं - ५६, ५७ ॥

तुल्यतां प्राप्तुं यत्नः सन्त्यक्तः । ५६ ॥
 प्राप्तां सन्त्यक्तः सत्कृपयादौ ॥ ५७ ॥
 एवं श्रुत्वा पुनः यत्नः सत्कृपयादौ ॥ ५८ ॥

नृनपेक्षति । ५९ ॥
 इत्येतो सः कश्चिन्मिदं ॥ ६० ॥
 यमनृप्युत्तमं रात्रिपराय ॥ ६१ ॥

तथापि भवता प्रोक्तमादितः सर्वमेव तु ॥ ६४ ॥
 सङ्क्षेपेण पुनर्ब्रूहि विज्ञानं सारवत्तरम् ।
 यावद्धारयितव्यं मे गुरो सर्वात्मना मया ॥ ६५ ॥
 इत्यापृष्टः स रामेण पुनः प्राहात्रिनन्दनः ।
 शृणु राम प्रवक्ष्यामि सर्वसारतमं पुनः ॥ ६६ ॥
 या चित्तिः धरमेशानी पूर्णाहन्तामयी परा ।
 सा स्वातन्त्र्याभिधामायाशक्तिमाहात्म्यतः सदा ॥ ६७ ॥
 जगदाभासयेन्नूनं दुर्घटकविधायिनी ।
 प्रतिबिम्बवदादर्शे तत्प्रकारं शृणु क्रमात् ॥ ६८ ॥
 या सा पराचित्तिः पूर्णापूर्णाहम्भावबृंहिता ।
 स्वातन्त्र्यवशतः स्वात्मरूपं द्वेधावभासयत् ॥ ६९ ॥
 तत्रैकांशेऽप्यहम्भावो पूर्णं आभासितो यदा ।
 तदा द्वितीयभागस्तदहम्भावविनिर्गतः ॥ ७० ॥
 बाह्यमव्यक्तमभवत्तद्दृष्टयैव भृगूद्वह ।
 अपूर्णाहम्भावयुत एष प्रोक्तः सदाशिवः ॥ ७१ ॥
 स तमव्यक्तभागन्तु पश्यन् भिन्नमपि स्वतः ।
 अहमेतदित्यभेदादनुसन्धिपरः सदा ॥ ७२ ॥

सबमें घुला-मिला किन्मात्र आत्मा ही सब ओर दीख रहा है । फिर भी गुरुदेव शुरू से अब तक आपने जो कुछ कहा, उसे संक्षेप में एक बार जितना मैं समझ सकूँ, मुझे ध्यान में रखना चाहिए — फिर समझाने का कष्ट करें ॥ ६४-६५ ॥

परशुराम की जिज्ञासा सुनकर अत्रिपुत्र दत्तात्रेय ने उन्हें फिर समझाना शुरू किया । सुनो परशुराम ! सम्पूर्ण कथन का तार मैं तुम्हें फिर समझाता हूँ ॥ ६६ ॥

जो सर्वाधिक ताकतवाली प्रसन्नता से भरी पराचित्ति है, वह अपनी परम स्वतंत्र यायाशक्ति की महिमा से, जो असम्भव को भी संभव कर देनेवाली है, आईने में परछाई की तरह अपने-आप में ही सारी दुनिया को दिखला देती है । उसके जगत् प्रकाशन का प्रकार क्रमशः सुनो ॥ ६७-६८ ॥

वह जो पराचित्ति है, पूरी तरह भरी है । अहम्भाव के कारण सब जगह फैली है ! अपनी बे-नियाज ताकत की महिमा में अपने ही स्वरूप को दो रूपों में प्रकाशित किया है ॥ ६९ ॥

अब उसके एक अंश में अहम्-भाव आभासित हुआ तो दूसरा भाग अहन्ता से शून्य जड़ अव्यक्त हो गया । परशुराम उस बाहरी अव्यक्त की दृष्टि से ही वह अपूर्ण अहन्ता युक्त अंश 'सदाशिव' कहा जाता है ॥ ७०-७१ ॥

यद्यपि वह उस अविदित अंश को अपने से अलग ही देखती है, फिर भी उसे हमेशा अभेदपूर्वक यही जान पड़ता है कि यह मैं ही हूँ ॥ ७२ ॥

न एव भूयः स्वातन्त्र्यात् सिंसृक्षुर्विविधं जगत् ।
 अव्यक्तमात्मनो देहमेतदेवाहमास्थितः ॥ ७३ ॥
 इत्येवमनुसन्धानपर ईश्वर आश्रयौ ।
 अव्यक्तमभिमानेनाविष्ट ईश्वर एव तु ॥ ७४ ॥
 त्रिधासमभवद्ब्रह्मरिद्विगुणरूपतः ।
 ब्रह्मदृश्यमहाराशिसमुदायावभासकः ॥ ७५ ॥
 विधयो विविधा आसंस्तथा तद्रूपसंस्थिताः ।
 ब्रह्मनो हरयोऽप्यासंस्तत्संहारपरायणाः ॥ ७६ ॥
 अनेकशोऽभवत् रुद्रा एवमेष जगद्विधिः ।
 एवविधं जगत्तत्त्वं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ७७ ॥
 भासते केवलं यम न हि ज्ञानं तु किञ्चन ।
 पराचितिः प्रपूर्णाहम्भावरूपैव सर्वदा ॥ ७८ ॥
 स्थिताप्यनेका सम्पूर्णहम्भावपरिवृंहिता ।
 यथा इव राम सर्वस्मिन् देहेऽहम्भाववृद्धितः ॥ ७९ ॥
 पृथङ् नेत्राद्यहम्भावैरपि तत्तत्क्रियापर-
 एवमेव परा संविद् पूर्णाहन्तासमाश्रया ॥ ८० ॥
 सदाशिवादिस्तम्बान्ताऽपूर्णाहन्ताश्रयापि त्रै ।
 वस्तुतः सैव परमा चित्तिरेवं हि भासिनी ॥ ८१ ॥

उसी की स्वतन्त्रता का कारण फिर अनेक तरह की दुनिया रच डालने की इच्छा
 होती है और वह अप्रकट अपनी देह में 'मैं यही हूँ' ऐसी आस्था करने लगता है ॥ ७३॥

ऐसा परिशीलन करते रहते पर तो वह स्वय ईश्वर हो जाता है । जो
 सम्माननीय भावना द्वारा अव्यक्त में समाया है, वही 'ईश्वर' है ॥ ७४ ॥

इस दृश्यवर्ग के एक बड़ी राशिरूप समूह का प्रकाशक यह द्रष्टा ही रुद्र, विष्णु
 और ब्रह्मा के रूप में तीन तरह का हो गया ॥ ७५ ॥

इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करने वाले ब्रह्मा अनेक थे, पालक विष्णु अनेक थे
 और संहर्ता रुद्र भी अनेक थे । ऐसा ही इस समार का नियम है ॥ ७६ ॥

आर्द्रन में परछाई की तरह इस दुनिया का स्वरूप यही है । परशुराम ! यह
 बिल दीखता ही है, दरअमल है कुछ नहीं ॥ ७७ ॥

वह भरी-पूरी पराचिति बिल्कुल गौरवमयी ही है वह स्थिरस्वरूपा हानि के
 बावजूद सम्पूर्ण अहभाव के कारण सब जगह फेली हुई सी जान पड़ती है । हे परशु-
 राम ! जैसे तुम इस देह में अहंभाव से पूरी तरह घिरे हो, फिर भी आँख, नाक
 आदि के अहंभावों से भी अनेक तरह के व्यापारों में लगे रहते हो ॥ ७८-७९ ॥

इसी तरह यह पराचिति भी सम्पूर्ण 'अहन्ता' का सहारा है । फिर भी यह
 महाशिव से लेकर अज्ञता या असवेद्यता तक अधूरे अहंभाव का भी सहारा है
 क्योंकि वह पराचिति ही इन सब रूपों में दीखने वाली है ॥ ८०-८१ ॥

देहाहम्भावरूपस्त्व स्वतो रूपरसादिकम् ।
 ग्रहीतुमममर्थोऽपि चाक्षतादात्म्यमेत्य तु ॥ ८२ ॥
 सर्वं गृह्णामि सततमेव देवः सदाशिवः ।
 स्वतः सर्वाभेदमयो ब्रह्मादिस्तन्म्वराशिषु ॥ ८३ ॥
 अतस्तादात्म्यमापन्नो जानाति च करोति च ।
 यथा ते निर्विकल्प तु रूपं सर्वाश्रयं हि सत् ॥ ८४ ॥
 न किञ्चिदपि जानाति करोति च भृगूद्वह ।
 एवमेव परा संवित् सर्वलोकसमाश्रया ॥ ८५ ॥
 भेदलेशमपि क्वापि न जानाति करोति च ।
 एतावज्जागतं सर्वं तस्यामेवावभासते ॥ ८६ ॥
 तत्त्वानन्त्यात् प्रभूतश्च दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
 जगतो भासनं सर्वं तस्या एतावभासनम् ॥ ८७ ॥
 यथादर्शभास एष प्रतिबिम्बावभासनम् ।
 अत्र त्वमहमन्ये च द्रष्टारो दृक्मयाः खलु ॥ ८८ ॥
 दृश्यासम्भेलेने शुद्धचित्तिरेव न चेतरेत् ।
 घटादिदर्पणो यद्वद् घटादीनामसङ्गमे ॥ ८९ ॥
 शुद्धदर्पणमात्रः स्याद्विभेदः प्रतिबिम्बतः ।

तुम अपनी देह में अहंभाव स मौजूद हाकर भी यद्यपि स्वयं रूप, रस प्रभृति
 विषयों को ग्रहण करने में अभिमर्त्य हा, फिर भी इन्द्रियों के साथ एकरूपता धारण कर
 तो सब कुछ हमेशा ग्रहण कर ही लेते हा । इसी तरह भगवान् सदाशिव ब्रह्मा से
 लेकर स्तम्भ पर्यन्त सबके साथ अभिन्न रूप ही है । फिर भी उन ब्रह्मादि की देहों में
 एकरूपता पा लेने पर वे ही सब कुछ जानते भी हैं और करते भी हैं ॥ ८२-८३ ॥

हे भागव ! जैसे तुम्हारा निर्विकल्पस्वरूप सबका सहारा और गज है । फिर
 भी यह न तो कुछ जानता ही है और न कुछ करता ही है । इसी तरह वह पराशक्ति
 रामस्त लोको का आधार है, फिर भी वह थोड़ा भी उस द्वैत को न तो जानती है
 और न कुछ करती ही है ॥ ८४-८५ ॥

दुनिया का यह सारा जगत् उसी में दीख रहा है, किन्तु अपनी बेनियाज ताकत
 से वही आईन में परछाई की तरह अनेक रूप में बँट गयी है । अब इस दुनिया का
 सारा दृश्य उसी का आभास है । जैसे आईन की परछाई का प्रतीति में केवल आईने
 का ही आभास होता है ॥ ८६-८७ ॥

यहाँ जो मैं और दूसरे देखने वाले हैं वे निश्चय ही चिन्मात्र हैं । यदि उनके साथ
 दृश्य की मिलावट न हो तो वे शुद्धचित्ति ही हैं और कुछ नहीं ॥ ८८ ॥

जैसे घड़े की परछाई से अलग आईना घड़े का संग न रहने पर शुद्ध रूप से सिर्फ
 आईना ही होता है । इसका मंत्र तो परछाई के कारण ही है ॥ ८९ ॥

एवं विकल्पसम्भूतदृश्याभासप्रमार्जने । १० ॥
 शेषिता परमा संविद्वितीयस्वरूपिणी ।
 महानन्दधना चैषा दुःस्वप्नेष्विवर्जनात् ॥ ११ ॥
 सर्वानन्दधनाकारा यतः सर्वैरभीप्सिता ।
 मूलमात्मस्वरूप स्यात् सर्वैर्यस्मादभीप्सितम् ॥ १२ ॥
 यदर्थो देहादिभावो यन्न कस्यापि नेप्सितम् ।
 यस्यैव लेशो विषयानन्द इत्यभिधीयते ॥ १३ ॥
 स एव भारह्मणादौ सुषुप्तीं चावभासते ।
 चिदेव स्पृहणीयत्वादानन्द इति प्रोच्यते ॥ १४ ॥
 मूढा न हि विजानन्ति स्वात्मभूतं महासुखम् ।
 विभिन्नमभिजानन्ति व्यञ्जकानां विभेदतः ॥ १५ ॥
 यथा हि दर्पणे भावा भासमाना निमिन्तः ।
 यावद्वर्पणविज्ञानं मित्रा एव विमान्ति वै ॥ १६ ॥
 विदिते प्रतिबिम्बत्वे भासमानं च पूर्वंवत् ।
 न दर्पणाद् मित्रमस्ति त्वादर्थः शुद्ध एव हि ॥ १७ ॥
 एवं विदिततरवस्य जगदेतावदीदृशम् ।
 भासमानमपि स्वात्ममात्रमेव न चैतरम् ॥ १८ ॥

इसी तरह विकल्प से उत्पन्न दृश्य रूप आभास का निषेध करने पर यही तर्क प्रभावित तो बेजाड़ ही है। उसमें लेसमात्र भी दुःख नहीं है, अतः वह परमानन्द प्राप्त भी है ॥ १०-११ ॥

गभी आनन्दों की यह घनीभूत मूर्ति है, क्योंकि सब उसे चाहते हैं। मुख तो भावा का स्वरूप ही है, क्योंकि सब उसकी चाह रखते हैं ॥ १२ ॥

जिसके लिए देह में प्रीति होती है, जो किसी का भी अप्रिय नहीं लगता और जिसका एक कण भी विषयानन्द कहा जाता है, वह स्वरूपभूत आनन्द ही किसी के जोड़ के उतरने पर या गाड़ी नीचे दोख पड़नी है या उसका अनुभव होता है। दरबसल बाधित होने के कारण जेतन को ही आनन्द कटा जाता है ॥ १३-१४ ॥

अपनी आत्मा से मिलने वाले उस परम मुख को अतानी आदमी नहीं जानते। भोग तो उसे व्यक्त करने वाले विषयों की विभिन्नता के कारण अपने से उस भाग ही समझत है ॥ १५ ॥

जैसे परछाई रूप निमित्तों के कारण आईने में दीखने वाले पदार्थ जब तक आईने में नहीं होता तब तक अलग ही जान पड़ते हैं, किन्तु जब उनकी परछाईपन का भाव जाता है तो पहले ही की तरह दीखते रहन पर भी वे आईने से अलग नहीं जाईने तो निखालिश रहते ही है। इसी तरह जिस आदमी का तत्त्व का ज्ञान जाता है, उसके लिए यह दुनिया इसी रूप में दिखलायी पड़ती है। यही अपनी भागा है और कुछ नहीं ॥ १६-१८ ॥

घटादिक मृदि यथा हेमि यद्वद्विभूषणम् ।
 प्रतिमाश्च यथा शैले जगदेवं चिदात्मनि ॥ ९९ ॥
 जगन्नास्त्येवेति दृष्टिरपूर्णा भृगूद्वह ।
 नास्तीति विपरीतो हि निश्चयो नैव मिद्वचति ॥ १०० ॥
 साधकात्मजगद्दृष्टेर्भूयः सम्भवतः स्फुटम् ।
 नास्तीति शापमात्रेण कथं स्याज्जगतो लयः ॥ १०१ ॥
 आदर्शनगरं सर्वमस्यादर्शस्वभावनतः ।
 एवं जगच्चिदात्मैकरूपं सत्यमुदीरितम् ॥ १०२ ॥
 पूर्णविज्ञानमेतत् स्यात् सङ्कोचपरिवर्जनात् ।
 दृगेव दृश्यतां प्राप्तं स्वमाहात्म्यप्रकर्षतः ॥ १०३ ॥
 यथादर्शो नगरनामेष सास्त्रार्थमङ्ग्रहः ।
 न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति साधकः साधनं च न ॥ १०४ ॥
 अखण्डाद्वयचिच्छक्तिस्त्रिपुरैवाज्ञभाशिनी ।
 मैत्राविद्या च विद्या च बन्धो मोक्षश्च साधनम् ॥ १०५ ॥
 एनावदेव विज्ञेयं नान्यद्भार्गव विद्यते ।
 एतत्तेजभिहितं राम विज्ञानक्रममादितः ॥ १०६ ॥
 एतत् मुविज्ञाय जनो भूयः क्वापि न शोचति ।

जैसे मिट्टी में घड़े, सोन में जेवरों और पत्थर में प्रतिमाओं की प्रतीति होती है, उसी तरह चिदात्मा में यह दुनिया दीख रही है ॥ ९९ ॥

परशुराम ! 'यह दुनिया है ही नहीं' ऐसा सोचना तो अधूरा ही है । क्योंकि 'है ही नहीं' ऐसा प्रसिद्धी निश्चय किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता ॥ १०० ॥

'है और नहीं है' इन दोनों पक्षों को मिश्र करनेवाले चिदात्म रूप में संसार की सत्ता साफ साफ रह ही जाती है । ऐसी स्थिति में यह संसार 'है ही नहीं' ऐसा कह देने से संसार का लोप तो नहीं हो सकता है ॥ १०१ ॥

जैसे आग्नि में दीखने वाला नगर तो आईन में है ही, उसी तरह यह संसार भी अद्वितीय चिदात्म रूप में सदा सत्य ही है ॥ १०२ ॥

यही पूर्ण विज्ञान है । क्योंकि इसमें किसी तरह की कमी नहीं है । दरअसल हर तरह की आवश्यकताओं और बन्धनों से रहित परम स्वतंत्रता का प्रभाव से दृक् अर्थात् शुद्ध चेतन ही दृश्य अर्थात् संसार का स्वरूप हो गया है । जैसा आईना ही अपने में प्रतिबिम्बित नगर रूप हो जाता है—संक्षेप में शास्त्रों का अभिमत यही है ॥ १०३ ॥

न कोई बन्धन है और न भुक्ति ही, न कोई साधक है और न कुछ साधन ही; एक अखण्ड एवं बेजोड़ चित्सक्ति ही चमक रही है । वही विद्या है, वही अविद्या है, वही बन्धन है, वही मोक्ष है, वही साध्य और साधन भी है ॥ १०४-१०५ ॥

हे भार्गव ! इतनी ही बातें जानने योग्य हैं और कुछ नहीं । ज्ञान पाने का यह

नारदेष ज्ञानखण्डः सूपपत्त्युपलब्धिकः ॥ १०७ ॥
 श्रुतो न नाशयेत् कस्य मोहमज्ञानसम्भवम् ।
 श्रुत्वाप्येतद्यस्य मोहो न शान्तिं प्राप्नुयात् क्वचित् ॥ १०८ ॥
 स शैलपुरुषो लोके केन ज्ञानं पुनर्भवेत् ।
 मनुदेव श्रुतं ह्येतद्विज्ञानं जनयेद् दृढम् ॥ १०९ ॥
 द्विधा त्रिधा वा मन्दस्य ज्ञानं न जनयेत् कथम् ।
 एतत् पापौघशमनं श्रुतं विज्ञानदं मतम् ॥ ११० ॥
 लिखितं दृष्टिदोषघ्नं पूजितं चित्तशोधनम् ।
 मृढतानाशनं चैतन् सर्वदा परिशीलितम् ॥ १११ ॥
 सर्वात्मभूतं यद्रूपं विचार्यावगतं स्फुटम् ।
 मुक्तिः स्यादन्यथा बन्धः सा भवेत्त्रिपुरैव ह्येव ॥ ११२ ॥
 इति श्रीनरदिनिर्हामोतमे त्रिपुरारहस्ये द्वादशसाहस्रश्या सहिताया
 ज्ञानखण्डे द्वाविंशोऽध्यायः ।

जिनसिद्धा शुरू से ही मैंने तुमहें सुनाया है । इसे ठीक से हृदय द्रम कर लेने पर किसी आदमी को किसी तरह का शोक नहीं होता है ॥ १०६ ॥

हारितामन मुनि ने नारद से कहा — यह ज्ञानखण्ड अच्छी तरह सुन्दर गुणित और अनुभव से भरा है । यदि इसे ध्यानपूर्वक सुना जाय तो ऐसा कौन आदमी है जिसका अज्ञानजनित मोह भंग न हो जाय ? ॥ १०७ ॥

यह मुनिकर भी जिसका मोह भंग न हो, वह इस दुनिया में आत्मी हाफर भी पथर की प्रतिमूर्ति है । उसे फिर किसी से ज्ञान नहीं मिल सकता ॥ १०८ ॥

इसे जो एक बार सुन लेता है, उसका ज्ञान पक्का हो जाता है । दो-तीन बार जो सुनने पर मन्दबुद्धि व्यक्ति भी ज्ञानी बन जाता है ॥ १०९ ॥

इसे जो सुनता है, उसका पाप विनष्ट हो जाता है । यह विप्राज्ञ ज्ञान पा लेता है । इसे जो लिखता है, उसका दृष्टिदोष मिट जाता है । जो इसकी पूजा करता है, उसका चित्त पवित्र हो जाता है । जो इस पर विचार करता है, उसका अज्ञान मरता है । जो इसका लिए मिट जाता है ॥ ११०-१११ ॥

जो सबकी आत्मा के रूप में सर्वत्र उपलब्ध है, उसे विचारपूर्वक साफ-साफ जान लिया जाय तो फिर उस ज्ञानकार को मुक्ति मिल जाती है । अन्यथा उसके लिए बन्धन तो है ही । यह देवी त्रिपुरा का स्वरूप ही है । — हीम् ।

आईसर्वा अध्याय समाप्त ।

शाके रतेन्दुनिधिरन्दे धिषणेकुह्ययादृके ।

समाप्तिरगमव् व्याख्या विमलेयं मयेरिता ॥

आत्मपरिचयः

साक्षात् शक्तिस्वरूपिणीं सुखमयीं सोभाग्यसंबद्धिनीम् ।
माता मे च सरस्वतीं सुकृतिनीं धर्मकनिष्ठामयीम् ॥
शास्त्रज्ञानप्रवीणशुद्धचरितः श्रीकीर्तिनाथः पिता ।
तज्जोऽहं जगदीशचन्द्रमुदितः प्राप्तावकाशः गृही ॥
चन्द्राङ्गुवसुभूशाके चाषाढस्याऽसिते दले ।
सप्तम्यां रविवारे च निशायाः पश्चिमे पले ॥
दत्त्वाशिषश्च मे तात क्षिप्त्वा गृहघुरम्ममि ।
बंकुण्ठाधिपतिं ध्यात्वा बंकुण्ठश्च समाप्यौ ॥
(६-७-१९६९)

बाणभयोमाङ्गुचन्द्राब्दे शाके ज्येष्ठासिते शनी ।
द्वितीयायां समाप्येह लीला मे जननीं ययौ ॥
(मई, १९८३)

डॉ० जगदीशचन्द्रः

श्लोकानुक्रमणिका

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
अ		अत एव मोहितास्ते	२४७
अना वापि कृत्वा वा	१५७	अतस्त्वरत्नहेतोस्तु	२१९
अना अरणादीनां	२७१	अतस्त्वज्ञे हि सा भ्रान्ति	३०२
अप्यद्वयचिच्छक्तिः	३१२	अतस्किं व्रजन् क्वापि	२१५
अप्यवाञ्छित जाग्रद्	१६६	अत एव तैमिरिकः	३०२
अप्यहो बहिर्दग्धो	४२	अतस्तस्योद्भवो लोके	५८
अप्यहति मत्यादीं	१७३	अनस्तादात्म्यमापन्नो	३१०
अप्यपश्यन्त्यात्मरूपम्	२३९	अतस्तु भासकं शुद्धं	१७६
अप्यसत्त्विकल्पाख्य	३१७	अनस्ते योषितोऽप्येवं	९९
अप्यस्य निवृत्त्यन्तं	२१८	अतस्तैस्तत्पदे ज्ञाते	२६२
अप्यनिना कर्मफल	३०४	अतिक्रान्ता अतो लोक	१५९
अप्यनिमित्तस्तु शुद्धात्मा	३०५	अतितीव्रप्रवृत्त्यैव	२५७
अप्यलानामपि न हि	१६७	अतिप्रियं स्वपुत्रादि	२१५
अप्यतने ह्यसिद्धः स्यात्	२३३	अतिश्चित्तं जना सर्वे	५३
अप्यपरः श्रुतमपि	२१९	अतीता बन्धवो नष्टाः	१६३
अप्यपरमकं श्रेय	९३	अतो गुरुपायोऽत्र	११०
अप्यपौरुषमाश्रित्य	९२	अतो निद्रास्मृतिरपि	२०८
अप्यप्रतीत्यैव युक्ता	८४	अतो बहिः पदार्थोऽपि	२३४
अप्यप्रमाता प्रमित	८६	अतो हि दृश्यदैहाद्यम्	१०२
अप्यप्रमाद्वनपरो	१५०	अत्यन्तं भ्रान्तिमाप्नोति	६९
अप्यसर्वसाधनस्य	२५५	अत्यन्तशोकस्तविष्टो	१६१
अप्यसृष्टिरेव स्यात्	२१३	अत्यन्ताभाव आकाश	२४२
अप्यस्वात्मनि विश्रान्तिः	२४१	अत्युत्तमेषु भोगेषु	३६
अप्यशरीर करण	१०१	अत्र ते वर्णयिष्यामि	१४८
अप्यशरीरं नास्त्येव	१०१	अत्र ते कणयिष्यामि	१८९
अप्यसद्योजातशिशो	२०८	अत्र ते सम्प्रवक्ष्यामि	२०४
अप्यमात्मप्रदेशो य	२४३	अत्र ते वर्तयिष्यामि	२६७
अप्यएव प्राणायामैः	९८	अत्र मुह्यन्ति बहवः	२०५
अप्यएव हि भावानां	१४६	अत्र मुह्यन्ति बहवः	२४१
अप्यएव शुद्धमनो	२०६	अत्र सर्वे न पश्यन्ति	१९७

आत्मपरिचयः

साक्षात् शक्तिस्वरूपिणीं सुखमयीं सौभाग्यसंवर्द्धिनीम् ।
माता मे च सरस्वतीं मुकुतिनीं धर्मकनिष्ठामयीम् ॥
शास्त्रज्ञानप्रवीणशुद्धचरितः श्रीकीर्तिनाथः पिता ।
तज्जोऽहं जगदीशचन्द्रमुदितः प्राप्तावकाशः गृही ॥
चन्द्राङ्गुवसुभूशाके चाषाढस्याऽसिते दले ।
सप्तभ्यां रविवारे च निशायाः पश्चिमे पले ॥
दत्त्वाशिषश्च मे तात क्षिप्त्वा गृहधुरम्मयि ।
बंकुण्ठाधिपतिं ध्यात्वा बंकुण्ठञ्च समापयौ ॥
(६-७-१९६९)

बाणव्योमाङ्गुचन्द्राब्दे शाके ज्येष्ठासिते वनौ ।
द्वितीयायां समाप्येह लीला मे जननीं ययौ ॥
(मई, १९८३)

—डॉ० जगदीशचन्द्रः

श्लोकानुक्रमणिका

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
अ		अत एव मोहितास्तं	२४७
अकृत्वा वाणि कृत्वा वा	१२७	अतत्परत्वहेतोस्तु	२१९
अक्षान्त करणादीना	२७१	अतत्त्वज्ञे हि सा भ्रान्ति	३०२
अम्बुषाद्व्यमचिच्छक्तिः	३१२	अतर्कितं ब्रजन् क्वापि	२१५
अखिलं आधितं आयद्	१६६	अत एव तैमिरिकः	३०२
अखिलाङ्गे वल्लिदग्धे	४२	अतस्तस्योद्भवो लोके	५८
अग्निर्दहति मर्त्यादी	१०३	अतस्तादात्म्यमापन्नो	३१०
अज्ञाः पश्यन्त्यात्मरूपम्	२३९	अतस्तु भासकं शुद्धं	१७६
अज्ञानं सविकल्पाख्य	२१७	अतस्ते योषितोऽप्येवं	९९
अज्ञानस्य निवृत्त्यन्तं	२१८	अतस्तीस्तत्पदे जाते	२६२
अज्ञानिनां कर्मफल	३०४	अतिक्रान्ता अतो लोक	१५९
अज्ञानिभिस्तु शुद्धात्मा	३०५	अतिनीव्रप्रवृत्त्यैव	२५७
अचलानामपि न हि	१६७	अतिप्रियं स्वपुत्रादि	२१५
अचेतने ह्यसिद्धः स्यात्	२३३	अतिश्रितं जना सर्वे	१३
अतः परः श्रुतमपि	२१९	अतीता बन्धवो नष्टा	१६३
अतः परमकं श्रेय	९३	अतो गुरुष्वप्योऽत्र	११०
अतः पौष्ट्यमाश्रित्य	९२	अतो निद्रास्मृतिरपि	२०८
अतः प्रतीत्यैव युक्ता	८४	अतो बहिः पदार्थोऽपि	२३४
अतः प्रमाता प्रमित	८६	अतो हि दृश्यदेहाद्यम्	१०२
अतः प्रसादनपरो	१५०	अत्यन्तं श्रान्तिमायानि	६९
अतः सर्वसाधनस्य	२५५	अत्यन्तशोकसंविष्टो	१६१
अतः सुषुप्तिरेव स्यात्	२१३	अत्यन्ताभाव आकाश	२४२
अतः स्वात्मनि विश्रान्तिः	२४१	अत्युत्तमेषु भोगेषु	३६
अतः शरीरं करण	१०१	अत्र ते वर्णयिष्यामि	१४८
अतः शरीरं नास्त्येव	१०१	अत्र ते कथयिष्यामि	१८९
अतः सद्योजातशिशो	२०८	अत्र ते सम्प्रवक्ष्यामि	२०४
अत आत्मप्रदेशो य	२४३	अत्र ते वर्तयिष्यामि	२६७
अत एव प्राणायामः	९८	अत्र मुह्यन्ति बहवः	२०५
अत एव हि भावानां	१४६	अत्र मुह्यन्ति बहवः	२४१
अत एव शुद्धमनो	२०६	अत्र सर्वे न पश्यन्ति	१९७

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
अत्राद्युनास्मीतिरूपा	२१८	अनपेक्षयैव यत् किञ्चित्	२७२
अत्रोपपत्तिं वक्ष्यामि	१३५	अनयत्तुर्यतनयो	६५
अयं चित्स्वातन्त्र्यभरात्	१८१	अनन्यशरणं भवतं	१९
अथ तत्र मृगान् सिंहान्	३१	अनया विहृता राम	२५४
अथ तृतीयतनय	६५	अनयैव हि सर्वोऽयं	२५५
अथ ते कथयाम्यद्य	२	अनवरथस्य राज्यन्तु	९६
अथ ते बन्धवः कस्य	१६३	अनवस्थिततर्कस्य	८५
अथ दृष्टवोत्सङ्ग एनं	१५४	अनवस्थिततर्को वै	८५
अथ देहस्य चात्मत्वं	११४	अनवस्थिततर्कत्व	९०
अथ धैर्यं समालम्ब्य	१५७	अनवस्थिततर्कतं	९१
अथ निश्चितमात्मरूप	२२२	अनवस्थिततर्केण	९१
अथ प्राप्ता मुहूर्तेन	११७	अनस्तमितभारूपो	२२७
अथ ग्राह् ब्राह्मणाश्च	२९८	अनादरेण श्रुतश्च	९०
अथ प्रोचुर्दृष्टिगणा	२६९	अनादिकालतो भीमे	२०
अथ भूमः स कस्मिंश्चिद्	१०४	अनादिकालाद्रामात्र	२४५
अथ राजकुमारास्ते	१४९	अनादिमिथुनं यत्तत्	२७१
अथ शृङ्गे हेमनिरे	१५७	अनादृत्य साधनैक	२७९
अथ स्मृति समासाद्य	२२४	अनारम्भः स्वभावेन	२८७
अथाऽऽजयाम तत्पुत्रः	१५०	अनालोच्य फलञ्चापि	११
अथान्यथापि वक्ष्यामि	२१५	अनाश्वासस्य मूलन्तु	२७७
अथाऽपश्यदन्धकारं	११५	अनाहृतोऽस्ति बालस्य	१३२
अथाऽपश्यद्राजसुतं	११७	अनिच्छया विकल्पस्य	१७२
अथापि लोके दृष्टोऽस्ति	२३६	अनिर्मलान्तःकरणं	२८७
अथ मामुपसम्प्राप्तो	१४	अनीशा तत्परैवासं	६२
अथालक्ष्य राजपुत्रं	३५	अनुकम्प्यो यद्यहं	१५१
अथासाद्य बहिर्द्वीति	३	अनुष्ठानं च भवति	२२७
अथास्थिरो मया सम्पद्य	६३	अनुभवतं सर्वथैव	४८
अथाह हेमाङ्गदोऽपि	३०३	अनुवृत्तिः कारणेन	१६७
अथैवं प्रणतं रामं	१२	अनुवृत्तिर्भवेत् पूर्वं	२६५
अथोत्थाय गुरुक्त्या स	१२	अनुष्णाद्योतस्पर्शानि	६५
अथोत्थितो महासेनो	१५९	अनूतना सर्वदाऽसि	२६९
अद्यमानाजनेर्कस्तु	२२७	अनेकचित्रनिर्माण	६१
अनन्तजन्ममुकृतै	२२२	अनेकभेदभिज्ञापि	१४१
अनन्तवासनापङ्क	२५३	अनेकरसतैव स्यात्	१४३

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
अनेकशोऽभवन् रुद्रा	२०९	अपरेयं महाभ्रान्ति	२८९
अन्तःशान्ता बहिल्लौक	२५१	अपश्यमन्धकारञ्च	११८
अन्तरत्यच्छमुस्वागतो	२९०	अपश्यत् तज्ज्ञं तत्र	१५०
अन्तर्बहिर्वा यत् किञ्चित्	१७७	अपश्यदग्रं भूपं	१५२
अन्तर्हितं यदि तदा	१२७	अपाचितमपवर्कं स्यात्	२०३
अन्तवत् द्वितीयं स्याद्	२७५	अपि किञ्चित् प्राप्य चैनं	२९३
अन्धकारसमाच्छन्नं	१२०	अपूर्णे तत्परत्वे तु	२७६
अन्धस्याभासमानञ्च	२३७	अपूर्तितारतम्येन	२५२
अन्धीभूता विचिन्वन्तः	२०	अपूर्वंमासादितं मे	२२४
अब्धौ निमज्जतो नौका	१९	अगृच्छत् प्राञ्जलिर्भूत्वा	१५३
अन्यथा नैव विषय	१०७	अपृष्ट्वा स्वस्वाभिमतं	२३७
अन्यथा लोष्टकुड्यादे	२०८	अप्यसत्यं मयोक्तं यत्	८१
अन्यथा चेष्टते भूयो	२०	अप्यसत्यात्मकं यस्मात्	१७
अन्यथानादिसंसारे	९६	अप्यस्खलितवर्णा या	२८१
अन्यथा हि प्रमाता नो	८४	अप्यावरणदोषः स्यात्	२४४
अन्यस्मृत्यनुसन्धाना	२०९	अप्रकाशोऽपि वस्तूनाम्	१४२
अन्यानपेक्षणैर्नैव	१४२	अप्रकाशो यथा भाति	११७
अन्यानपेक्षभासं स्यात्	१४८	अप्रमाणदूशिनोस्ति	१६८
अन्यानपेक्षमेतत्तु	२१५	अप्रष्टुर्नैव विद्या स्यात्	२३७
अन्यानुल्लेखमात्रेण	२२३	अप्राप्तस्य भवेत् प्राप्ति	१२०
अन्यासत्ता गूढभावा	४७	अप्राप्तस्यापि सम्प्राप्तिः	२२६
अन्यूनधिकभावाः स्यात्	२८१	अप्राप्तावात्मता न स्यात्	११९
अन्ये दुर्भाग्येवास्ते	२२१	अप्राप्य तं मुनेः प्रश्ने	१६४
अन्येऽपि योगाः कथिताः	९५	अप्रेक्षणीयां चेटीं तां	४८
अन्येभ्यस्तु परावृत्ति	२०५	अबाधितः स्थिरश्चापि	१६६
अन्येभ्यस्तु परावृत्ति	२०५	अद्विमतकर्तृकं कार्यं	९५
अन्येषास्तु परीक्षायाम्	२८८	अभावः स्यादभ्यासद्वै	२४८
अन्यो मोक्षो न सम्भाव्यः	२३२	अभाव्यमानं चैतत्तु	१६९
अन्यव्यतिरेकाभ्यां	१३६	अभिमानो न कर्तव्य	१५०
अन्विष्यान्विष्य विहिता	१२१	अभून्मुच्छितकल्पा सा	६९
अप्राप्तानुच्चरितं	२६४	अभ्यासातिशयात्तस्य	२८९
अपराधः पौरुषस्तु	२५४	अभ्यासान्धिमन्त्राद्यैः	१४४
अपराधकर्मकाम	२५३	अभ्यासेनाविलीनाश्च	२६१
अपरे तु स्वरूपे हि	१०३	अमितत्वात्सृष्टिरियं	१४५

श्लो०	पृ०
अयत्नेनैव परमे	२८२
अयमेवंविध इति	२०९
अयमेवंविध इति	२०९
अरिक्तात्मभावहेतो	१४३
अर्थक्रिया न त्वचिच्छ	२३६
अर्थक्रिया हि सन्दृष्टा	२४७
अर्बुदानां द्वादशकम्	१५८
अर्हन्तं वासुदेवञ्च	९९
अलं ऋजीषरोमन्थ	१२६
अलक्षितं चाऽपि मसी	२०८
अलमेतेन बाह्येन	२२५
अल्पविद्यं मायिनञ्चा	९३
अवच्छेदनहेतूनां	२१७
अवभासयदात्मानं	२३९
अविचारः परो मृत्यु	२२
अविचारहता दैत्या	२३
अविचाराद्धरिः पूर्व	२४
अविचाराद्विधिरपि	२३
अविदित्वा स्वं निधानं	२२५
अविदित्वा भावममुं	१२१
अविद्यायास्तु सामर्थ्यं	१०७
अविवेकान्नोपलब्धि	२९५
अविवेकाः केन नश्येत्	२९५
अविवेकोऽपृथक् ज्ञान	२९५
अव्युत्पत्त्या न जानन्ति	२२९
अव्याप्ती तु चित्ता ग्रहि	२३३
अव्यक्तमितिमात्रं स्यात्	१८४
अव्यक्तमेतदेवोक्तं	१८२
अव्यक्तं यत् प्रथमजं	२१३
अविशेषात्तच्छरीरैः	१६४
अवेक्षं चेत् सर्वयैव	२००
अवेक्षं विदितं तच्चेद्	१९२
अशनादसनाद्वाचो	५८
अशरीरोऽचेतनो वा	१००

श्लो०	पृ०
अभृणोद्विधान् शब्दान्	६४
अशेषोत्पादयित्री त्वं	२६९
अश्रद्धया हतप्रज्ञो	८५
अश्रद्धस्तरुणः पत्न्यां	८२
अश्रद्धेयं कुतो वा तत्	८७
अश्रद्धो वा भुवं कस्मात्	८२
अश्रोषं खे सिद्धगण	२२४
अश्वमेधराजसूया	१३०
अश्वस्य रोधकान् सर्वान्	१४८
अमंवेद्यं प्रकाशेत	१९७
असङ्कल्पेन तद्रूपम्	३०१
असङ्गचकालमपि च	१८४
असङ्ख्याताः स्वदेहोत्पा	१६३
असञ्चरित्रयात्यन्तं	६०
असता नरशृङ्गेण	२३८
असत्यत्वेन विज्ञातं	२६६
असत्यमेव जानाति	८१
असत्सु कृत्वा श्रद्धां ये	८३
असत्सु नो विघातव्या	८३
असन्दर्भेण किमहं	७९
असमर्थः स्थूलरूपं	१०३
असम्यग् भासनञ्चान्य	११८
असुखं नहि दुःखं स्याद्	१६
अस्ति जानासि यदि तद्	१९४
अस्ति तन्नैव विज्ञातुं	२५४
अस्तित्वा हि पदार्थानां	१४२
अस्तित्वीजं श्रेयसोऽस्मिन्	५९
अस्थिरं स्ववशे नक्त	६९
अस्थिरः पीडितोऽप्यन्तं	६८
अस्थिरस्यापि या माता	७१
अस्थिरस्तु पुत्रगृहे	६६
अस्थिरस्तु यदा सुप्तः	७१
अस्थिरस्य सखा योऽयं	७१
अस्थिराख्यं स्वपुत्रं सा	६२

श्लो०	पृ०
अस्थिराह्नः सिद्धितोऽभूत्	६२
अस्थिरेणास्थिरत्वञ्च	६९
अस्थिरोऽपि क्षणेनैव	६३
अस्मान् राम तथा पश्य	२६१
अस्मिन् घुरे सखीपुत्रो	७१
अहं कदाचिन्नास्मीति	११५
अहन्तया समाक्रान्ता	११४
अहन्त्वेनैव गृह्णाति	१३९
अहं पृच्छामि किञ्चित्त्वा	१९२
अहं वाद्यावधि कृतः	३०
अहं बुद्धिं न व्यनीत्य	२०२
अहं सख्यनुकूला वान्	६३
अहो द्रवहता भासि	१२६
अहो हृपात्मज कथं	३०३
अहो भगवती माया	२२१
अहो महन्निचित्रमेतत्	१०
अहो मे चित्तमोहोऽयं	२२५
अहो यथान्धानुगतो	६
अहो यथावदात्मानम्	११४
अहो लोकास्तथा स्वात्मा	२३५
अहोऽविचारमाहात्म्यं	१०
अहोऽस्य मुखलेशस्य	११६
अहो स्वयं खण्ड्यात्मा	२३०
अ	
आकाशमिव विज्ञास्तु	२३९
आकाशादपि विस्तीर्णा	२५५
आकाशाद्विस्तृता या स्यात्	२९४
आकाशे कोमलेऽत्यन्त	२४३
आक्षिपन्तश्च सभ्यास्तु	१९०
आगच्छति पिता सद्य	३५
आगतं कण्ठमलम्बं	३६
आचार्यं मेऽधिक्षिपसि	२९८
आचार्यसेतभेदाच्च	८७
आच्छादितं स्वस्वातन्त्र्यं	२४०

श्लो०	पृ०
आजगाम वनाद्यत्र	३५
आत्मत्वभावनं नूनं	२७९
आत्मलाभेन हेतुः स्यात्	१२०
आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु	२८०
आत्मविद्याविद्यावेता	२८०
आत्मा भवेन्मम तथा	११७
आत्मानं बुद्धिमपि वा	२१६
आत्मानमन्यच्चान्यच्च	११७
आत्मा व्यवसितः सर्वे	२७९
आत्मैव मायया ज्ञातु	२७६
आदर्शं न विजानासि	१९४
आदर्शनगरप्रस्थं	१०३
आदर्शनगरं सर्वम्	३१२
आदर्शो ह्यचलस्तत्र	१४५
आद्याऽन्येभ्यः परावृत्तिः	२०५
आनन्दार्णवनिर्भवन	७४
आनन्दिताहं भवामि	७१
आनयन्ति स्वायतनं	६४
आन्तरं बाह्यमपि ते	१२
आन्तरोऽभिनवोऽप्यो वा	२०९
आपातदशैनादेव	२८८
आप्तेष्वथद्वितं मूर्धं	८२
आब्रह्मसुखमेतस्य	२२४
आमातकल्पमेव स्यात्	२०४
आमयाः प्रायशः सर्वे	५८
आयान्तं स्वनिकेतं तं	१०४
आयास्यति स भगवान्	३५
आराधयेदकापट्यात्	२६
आलक्ष्यराजपुत्रोऽपि	४५
आलम्ब्यैतदन्वापि	१७
आविरासीच्चिदाकाश	२६९
आवृतप्राधान्यतस्तु	२४३
आवृत्यभिहितः स्फुट्यारि	२४४
आश्वस्तचित्तस्त्रिपुरां	१०४

श्लो०
आसवते मयि वापि त्वं
आसने मृदुतूलाढ्ये
आसादयति तन्निष्कं
आसादितपरतत्त्वौ
आसीत्पृष्टेः पुरा तस्मात्
आहूतैरनुसन्धाने
आहोस्वित् सत्य एष स्यात्

ओ

ओषधेन तु देवानां

इतस्ततः समाकृष्टः
इति दत्तात्रेयमुखा
इति निश्चित्य द्वारेण
इति निश्चित्य भूयोऽहं
इति पर्यनुयुक्तोऽयं
इति पूर्वोत्तरवचो
इति पृष्टः पुनस्तेन
इति पृष्टः प्राह रामं
इति पृष्टा हेमलेखा
इति प्रियोदितं श्रुत्वा
इति व्यवस्य सहसा
इति शुङ्गवचः श्रुत्वा
इति श्रुत्वा हेमलेखां
इति श्रुत्वा शैललोका
इति श्रुत्वा परां वाणीं
इति सम्प्राथितो दत्त
इति सम्प्राथितो राजा
इतोऽपि चिरकालेन
इत्यत्रिसूनुप्रापृष्टो
इत्यष्टाऽऽकवचनं
इत्याकर्ण्य मुनिवचो
इत्याममप्रसिद्धोऽर्थः
इत्यादि सन्ति बहुधा

पृ०

३६
११३
१२०
१३१
१३९
२६४
११६

१७२

६९

२५२

११७

२२५

२०७

१९४

२५२

२५८

९०

१३०

११

८६

५८

१८६

२६९

४

१५५

१६०

१८८

१९४

१७१

१४०

२७२

श्लो०

इत्यापृष्टः स रामेण
इत्यापृष्टा तापसी सा
इत्यापृष्टा महाविद्या
इत्यापृष्टो भागवेष
इत्युक्तः प्रियया हेम
इत्युक्तः प्रियया हेम
इत्युक्तः पुनरप्याह
इत्युक्तः प्राह भूयस्तं
इत्युक्ता हेमलेखा सा
इत्युक्ता साऽऽब्रवीद्धेम
इत्युक्ता सा प्रियं प्राह
इत्युक्ता सा परा विद्या
इत्युक्तो गण्डशैलं स
इत्युक्तो मुनिपुत्रोऽपि
इत्युक्तो नृपपुत्रं तं
इत्युक्त्वा चरणीं मूर्ध्ना
इत्युक्त्वा भक्षणोद्युक्तं
इत्युक्त्वाऽऽरुहा सोम्राग्रं
इत्युक्त्वा तङ्गणो भूयः
इत्युक्त्वा मोलितार्कं तं
इत्युक्त्वा भूमृता तेन
इत्युक्त्वा नृपतिं हस्ते
इत्युक्त्वा सम्मतिं चक्रुः
इत्येतत्तु समाख्यातं
इत्येवं प्रस्तमाकर्ण्य
इत्येवमनुसन्धानेन
इदं तदितिरूपेण
इदमेवात्मनो रूपं
इमां वेणामनुवर्दी
इयं स्यादपरिच्छिन्ना
इयमेव हि मायाख्या
ई
ईश्वरानुग्रहश्चापि
ईश्वरेच्छादितो वापि

पृ०

३०८
१४९
२७०
१४७
११२
१२४
१६५
२९३
८४
११९
१२६
२८३
१५३
१६२
२९४
१९
२९३
११३
१५५
१५६
१५८
१६९
१९१
१५५
२३६
३०९
२४६
११८
३३
२८०
२४२
२५७
१३७

श्लो०	पृ०
ईश्वरो हि जगज्जाल	१००
उ	
उत्थाय हर्षभरितः	३
उत्पत्तिर्नूतनाभास	१३६
उत्तमज्ञानिनां तत्तु	३०४
उत्तमज्ञानिनामात्म	२६४
उत्तमज्ञानिनश्चैते	२६६
उत्तमज्ञानिनो भान्ति	२६५
उत्तमाः सकृदादेश	२२४
उत्तमाना नहि क्लेशः	२२४
उत्तमानन्तु तत्काल	३०४
उदासीनां सदा दृष्ट्वा	३६
उच्चान् नन्दनमगं	११२
उन्मत्ताश्च ततोऽभूवन्	२१
उन्मील्य नयने पाश्चै	११८
उन्मील्य न प्राप्यते किं	१२५
उन्मेषयदागमार्थि	२५८
उपगच्छाम्यहं नित्यं	४४
उपदेशाद्विदुः सर्वे	१३१
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां	२
उपलब्धिस्वरूपत्वात्	२२९
उपासने बहुविधम्	१६
उपेक्षेत कदाचिद्धो	१६
उलूकादिदिवान्ध्रानां	१४६
उवास तैर्विचित्रेषु	७३
ऊ	
ऊर्ध्वं विश्वक् च सम्पश्यन्	१५६
ऊपरा भूर्ध्वरा स्यात्	१६१
■	
ऋचो यजूंषि सामानि	६४
ऋषयो न भयं नवापि	२७४
■	
एक एव हि सर्वस्य	१७३

श्लो०	पृ०
एकमेव सुखं दुःखं	४०
एकरूपो यथाऽऽदर्श	२३७
एकस्मिन्नपि शोकः स्यात्	१६२
एकस्यापि हि कामाना	२५५
एकाग्रमानसः पश्य	२१९
एकान्तग्रहणे वापि	८२
एकापि साऽतिवितता	२९४
एतच्चित्रं भासते वै	१७३
एतज्जगद् कार्यभूत	९४
एतज्जानाद् कथं मौल	२५४
एतत् सर्वं केन भवेत्	२९६
एतत्तं सम्प्रवक्ष्यामि	१००
एतदेव पुमान् प्रोक्तः	१८२
एतदेव परं तत्त्व	२०६
एतद्विषयमृते नास्ति	२४५
एतद्वेदनमत्यन्तं	२००
एतद् पदं निजं रूप	१२३
एतत् परा चित्तिः प्रोक्ता	१७७
एतत्सर्वं संशेषण	१८८
एतत्सर्वं मुकुपया	२८४
एतदादीनि लक्षमाणि	२८७
एतदेव हि तच्छक्ति	१८७
एतदेव हि विज्ञानम्	२१६
एतदेव हि विज्ञेय	२७५
एतद्यदुक्तं भवता	१६
एतत् सुविज्ञाय जनो	३१२
एतद्धो ऋषयः प्रोक्तं	२८३
एतन्मे ब्रूहि भगवन्	१६४
एतन्मे शस राजन्द्र	२१६
एतन्मे राजतनय	३०१
एताभिस्त्विसृष्टी राम	२५५
एतावत्सु सभासत्सु	१९५
एतावदेव सोपानं	९९

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
एतावदेव विज्ञेयं	३१२	एवं मम सखी स्वच्छ	६२
एतावद् दुर्लभं लोके	१०४	एवमुक्ता हेमलेखा	१०६
एतावानेव भेदः स्यात्	२४७	एवमेव भवेद्यन्मे	१६
एते हि चाक्षुषा भावा	१७४	एवं रामेणानुयुक्तो	५६
एतं पश्य महाशैलं	१६०	एवं लोकाश्विरादेषो	२६
एवं च किं दीपमुखा	१९७	एवं वदन्तं नृपतिं	१५६
एवं चित्तिः सर्वगता	२०६	एवं वारुणिना प्रोक्ताः	१९०
एवं चित्तिमृते किञ्चित्	२३८	एवं विकल्पस्यापोहे	२२३
एवं चित्तेर्विशुद्धेक	१४४	एवं विचित्रदुष्टाक्षाः	१७४
एवं विदात्मविज्ञाना	२५०	एवं चित्तिरियं वेद्या	२०२
एवं चिरतरे काले	७३	एवं विदिततत्त्वस्य	३११
एवं जना हितेच्छाभिः	२२	एवंविधं हि भारुणं	१०७
एवं जीवेश भेदादि	१२८	एवंविधं स्ववृत्तं मे	१०९
एवं तत्र नरा नार्थो	१३२	एवविधमहामोक्षे	२७६
एवं तस्यात्यगात्कालो	५	एवविधन्तु चित्त्वं	२३३
एवं तस्या वचः श्रुत्वा	५६	एवंविधां समालोचय	४६
एवं तेन सभापृष्टा	५९	एवंविधापि विज्ञा	९३
एवं दत्तात्रेयमुखा	१४७	एवंविधैकरूपाऽपि	१७९
एवं देवो जगच्छून्य	१३९	एवं विनिश्चितोऽन्यान्	२३
एवं निरूपणाद्यैस्तु	२८५	एवं विलिप्ते मनसि	२०८
एवं परचित्तेः स्वच्छ	२४०	एवं विषं कस्यचित्स्यात्	१४६
एवं पूर्णानन्दरूपे	२२६	एवं व्यावृत्तभावानां	२०५
एवं पृष्टस्तया प्राह	१२५	एवं शीत धनं दाराः	४१
एवं प्रकाश्यभूतेषु	१९७	एवं सङ्कल्प्यते यद्यत्	२३१
एवं प्रियावचः श्रुत्वा	७९	एवं सकलक्षिते तु	२३१
एवं प्रियावचः श्रुत्वा	१०४	एवं सत्तर्कमिमाभ्यां	९५
एवं प्रोक्तः स्ववृत्तान्तः	१०८	एवं सत्सङ्गमाहात्म्यं	५६
एवं प्रोक्तानि लक्ष्मा	२८८	एवं सर्वे जागतास्तु	१७३
एवं प्रोक्तो हेमचूडः	३९	एवं सा परमा संवित्	१८२
एवं बहुविधा मर्त्याः	५०	एवं स्थिते कुतो राजन्	१६८
एवं बहूनि वर्षाणि	६८	एवं स्वात्मविदो भावा	१६५
एवं बुद्धिः केन च मे	११५	एवमन्यत्रोपयोज्ये	५१
एवं भूयोऽतिदुःखेन	७३	एवमन्ये ऋषिमणा	२६६
एवं सिद्धिमनुप्राप्त	२८२	एवमन्ये सुरा देवा	२५

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
एवमेव भावनया	१४८	कथमेतज्जगद्दृश्यं	१३५
एवमेव अनाना तु	१६०	कदानिन् कृमिकीटादि	१५१
एवमेव महायोगी	२९०	कदाचिदथ भाव्यर्थ	१५४
एवमेव शरीरान्त	२४४	कदाचिदपि घेधावी	२८२
एवमेव स्थितज्ञानी	३०५	कदाचिदेव कीराणां	१३
एवमेतत्त्वया पृष्ठं	२५०	कमलाकरवत्काक	१९०
एष एव भवेद्भेद	२४३	कर्णप्रावरणाः फाल	५०
एष एव महाबन्धो	२४५	कर्त्तव्यजिज्ञासयैव	२५९
एष मेऽद्य गुरुः शान्त	१५२	कर्त्तव्यतैव दुःखानां	८
एषा सुषुप्तिरित्युक्ता	२१३	कर्त्तव्यमविचारेण	२५
एषा हि प्रथमा सृष्टि	१७९	कर्त्तव्यविषयसंगमं	२०
ऐ		कर्मणा पाचकः कालो	३०३
ऐन्द्रजालिककर्मव	३०७	कर्म नैवास्ति यत्किञ्चित्	३०७
नमः कारणानन्द	१	कर्म शेषं कथं शिष्ये	३०७
क		कर्म वोपासन वाऽपि	२०६
कथं मुक्ते व्यवहृति	२१०	कलाविद्या रागकाल	१८१
कः प्राणप्रियमाहारं	२९३	कश्चिद्विद्वांस्तदा शापात्	२९९
कञ्जलेन समालिप्ते	२०७	कस्मान्निचितेनपिरमं	२९५
कटुकानि च तिक्तानि	६६	कस्मिन्दशे च काले च	१४१
कटुतिक्तानि चित्रात्म	६६	कहोऽसुत वत्स स्वम्	१९२
कठिना भूः शिलाप्राया	१६१	कहोऽत्मज जानीहि	२१६
कण्टकैश्चित्सर्वाङ्गा	२१	काञ्चित् सुखिणी प्राप्तः	४४
कथं कुत्र कदा केन	१११	काठिन्यनिर्मलत्वाभ्यां	१४२
कथं गण्डशैल्यगमं	१५३	का देवता च सम्प्रोक्ता	२९६
कथं ज्ञातसुविज्ञेयो	३००	कापिशायनपायीव	१३१
कथं तेषां शुभं भूयात्	२५८	कामनाया विशेषेण	२५८
कथं परीक्षणीयास्ते	२८८	कामबाणहतस्तत्र	३४
कथं पश्यसि तत् सौख्यं	४३	कामवेगेन विवशो	४५
कथं मुने देहमिम	१५६	कामादि वासना सर्वा	२७४
कथं वा तदपि प्राप्यं	३०	कामादिवासितस्वैवं	२७८
कथं विद्यामवेष्टं तत्	२००	कामादिवासना बुद्धेः	२७७
कथं सर्वैः समासाद्यं	२२१	काम्यकर्मफलभूत्या	२५९
कथं स्वान्तर्विनिर्भग्नं	२३४	कारणं स्वात्मपूर्णत्वा	२१७
कथञ्चिदन्यरूपेण	२००	कारणत्वाद्धि वितता	२९४

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
कार्यं स्यादिति तर्कणं	९४	कृपाणमाददे तक्ष	४५
कार्यस्याचिन्त्यरूपत्वात्	९५	केचिच्छास्त्राणि विदिषा	१८७
कालः प्रबोधने वार्यं	१०६	केचित् सदा समाधिस्थाः	२६७
कालादिभिः परिच्छेदो	२३३	केचित् खातेषु कूपेषु	२१
कालो देशश्च लोकेऽस्मिन्	१४१	केचित्तपः प्रकुर्वन्ति	१८७
काष्ठलोष्ठममत्वेन	११४	केचित् प्रादुर्बन्दि	१३६
का सा ते जननी प्रोक्ता	१०६	केचित्समाराधयन्ति	१८७
किं तावदेव तत् सत्यम्	२४७	केचिद्वनान्यर्जयन्ति	११३
किं त्वेवंविधसंविधिः	१८६	केचिद्वाज्यं प्रशासन्ति	१८७
किं न गश्यसि शोकस्य	१६२	केऽपि लोकविगर्हा तु	१८८
किं बहूस्तेन ते राम	२२९	केऽपि लोके धन्यतमा	२५५
किं वक्तव्यमहो नृणां	४९	केयं तवेदुशी विद्या	१९०
किं स्यात् प्रियतमं लोके	३९	केवलं भावनादाढ्यां	१४८
किञ्चिदुक्त्वा च कृत्वा च	२९०	केवलं भावनामात्रा	१६८
किञ्चिद्भावं हि सम्पश्यन्	२९९	केवलज्ञानिनो दृष्ट	२६३
किन्तु मुख्यसमाधित्वम्	२१२	केवलां चित्मात्मस्था	५२
किन्तूत्तरक्षणोद्भूत	२१०	केवलाज्ञानजनितं	३०२
किमत्र मुग्धभावेन	४०	केवलाऽपेक्षिता नैव	२०६
किमभूत्फलमेतेषां	७	के वा वयं स्वरूपं किम्	१०९
किमयं पूर्ववन्नेह	१३०	कोऽयं बन्धः कथं वा स्यात्	२४५
किमस्ति किं नास्ति लोके	२९७	को विचारो भवेत् किं वा	२९५
किमस्मिन्ननया दृष्टं	४८	कोऽविवेकस्त्वया प्रोक्तः	२९५
किमहं निद्रयाऽऽच्छन्नः	११६	को हि दुःसङ्गतः सौख्यं	७३
किमहं मां प्रवक्ष्यामि	४७	कीतुक्यत्यन्तमन्नाहं	३००
कुण्डिता सापि भवति	९८	कीमारे चान्यथा वृत्तं	७
कुतो नीचोच्चतां पश्येत्	३२	क्रमात् पूर्णसमावेशा	१३०
कुतो भोगेषु नात्यन्त	३६	क्रमेण दीक्षयामास	४
कुत्र वा गच्छति पुनः	६	क्रियाभासावभासेन	२२७
कुत्र श्रद्धा विघातन्या	८७	क्रियाभेदात् तत्त्वविधम्	१८२
कुर्यात्तावत्ताडनं वा	२४५	क्रोधिनं कामिनं त्यक्त	२६१
कुर्वन्त्येतत् स्वार्थमेते	११३	क्रोधो लोभश्च तावुक्ती	१०७
कृपमण्डूकसदृशा	२७	क्वचिच्चपलयात्यन्तं	७२
कृत्यमात्मदेवताया	१८८	क्वचिज्ज्वालासुखाक्षिप्तो	७३
कृपया बोधनीयोऽहम्	१३५	क्वचित् फलविसंवादात्	९२

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
क्वचित् कारणेऽदृष्टे	१३६	घ	
क्वचित् क्वचित् केवलं तु	२३९	घटादिकं चक्षुराद्यै	११५
क्वचिदत्यन्ततत्त्वेषु	७२	घटादिकं सृष्टिं यथा	३१२
क्वचिद्भूमौ कटेभृत्यं	४६	च	
क्वचोन्मीलयेज्जगच्चित्रं	१३९	चक्रुरायननं श्रेष्ठ	६३
क्षणिकत्वाद्दर्शनं तु	२१२	चक्षुर्नैतद्गोलकं त्रे	२०३
क्षणेन गत्वा पश्यन्ति	१८४	चञ्चलं हृद्ययोगेन	११५
क्षारं जलं स्वादुरसं	१६१	चन्द्रमण्डलशीतेन	१५७
क्षुधाभरसमाक्रान्ताः	२०	चिच्छक्तिरेषा परमा	१९७
क्षुब्धेन्द्रियो नरस्तस्यां	४९	चितिल्लवं स्वमात्मान	५३
क्षौद्रमाधुर्यवद्द्वे	५०	चितिरेव महासत्ता	१०३
		चितिर्जाह्नवावृता घृहीः स्यात्	२९५
खण्डज्ञानसमूहात्मा	२१६	चितिर्या परमा देवी	२४१
		चितिर्विचित्राज्यभावे	१४३
गगनं दर्पणे द्रष्टुं	२०५	चितिशक्तिमग्निप्राय	१८१
गगनं सर्वतो व्याप्तं	२०५	चितिशब्देन चितिरहं	५३
गणेशस्कन्दद्विपालाः	२७१	चितिशब्देन चितिरहं	१३५
गण्डशैलं प्रति ततः	१५५	चितिशब्देन चितिरहं	२३५
गतायतं रोचयन्ते	२२१	चितिशब्देन चितिरहं	२३७
गत्वा तत्र भ्रातृयुतं	२९२	चितिशब्देन चितिरहं	२३४
गत्वा दूरं न तत् प्राप्य	१२१	चितिशब्देन चितिरहं	२३४
गतवैकान्ते विविच्यैतत्	१११	चितिशब्देन चितिरहं	२४९
गन्धमादनशैलेन्द्र	११	चितिशब्देन चितिरहं	१८३
गम्भीरस्तिमिताम्भोधि	२७०	चितिशब्देन चितिरहं	२७३
गाढभाववया प्राप्य	१५४	चितिशब्देन चितिरहं	२६०
गिरयो निम्नतः यागति	१६१	चितिशब्देन चितिरहं	२२३
गुरुर्वापि कथं ब्रूयात्	२३७	चितिशब्देन चितिरहं	१४०
गुरुपदिष्टं यत् किञ्चित्	२४१	चितिशब्देन चितिरहं	१८४
गृहधान्यराज्यघन	११४	चितिशब्देन चितिरहं	२३८
गृह्णात्याश्रयजननं	६३	चितिशब्देन चितिरहं	२८९
गोपयन्ती स्ववैदुष्यं	५९	चितिशब्देन चितिरहं	२६२
ग्रन्थयः कोटिशः सन्ति	१२७	चितिशब्देन चितिरहं	२२७
ग्रन्थिरूपसमापन्नं	१२८	चितिशब्देन चितिरहं	५६
ग्रीष्मभीष्मकरातप्ते	२६	चितिशब्देन चितिरहं	२९२

श्लो०

चिराय लब्धो ह्याहारो
चिरायैष भवा प्राप्त
चेत्यं चिदात्मकमिति
चेत्याभासनमेवास्थाः

जगतः प्रतिबिम्बस्या

जगत्कारणरूपं वै

जगत्सर्वात्मना नैव

जगदादेहि देवस्य

जगदाभासयेन्नूनं

जगन्नावेति चाकाश

जगन्नास्त्येवेति दृष्टि

जगौ यथावत् तत् सर्वं

जटिला नित्यतरुणी

जनके ह्यभिसम्प्रीताः

जनकेनैवमादिष्ट

जनकोक्तमिति श्रुत्वा

जनयेत्तत्कालफलं

जना नेत्रस्वभावेन

जलं मनुष्यपञ्चादेः

जहौ मय्यनुरागन्तु

जागतो भ्रम एष स्याद्

जायरादौ व्यवहर

जाग्रच्चित्रदर्पणं चा

जाड्याल्पानल्पभावेन

जाते यादृशविज्ञाने

जिज्ञेय वारुणिविप्रान्

जीर्णं तु तत्पुरे चान्यत्

जीवन्मुक्तः समभवत्

जीवन्मुक्तदशासंस्थं

जीवन्मुक्तो हि दुर्लक्ष्यो

जीवानामविभेदेन

ज्ञस्य प्रमैव तज्ज्ञान

ज्ञातज्ञेयास्त्यक्तदेहा

पृ०

२९२

२९३

२३५

२३३

१४५

१९

१७८

१४०

३०८

१२२

३१२

४६

१९२

१९०

२२८

२१६

२०४

१७४

१७३

६१

२५०

२९२

१७०

२७९

२७४

१९१

७२

५२

१३०

२९७

१८२

३०२

१३१

श्लो०

ज्ञाता मयाऽसि सुदृढं

ज्ञातुः स्वच्छात्मरूपं तत्

ज्ञात्वा योगदृशा सर्वं

ज्ञात्वा कथञ्चिदात्मानं

ज्ञात्वा सर्वात्मना तस्या

ज्ञानं क्वचिन्नैव साध्यं

ज्ञानं तदेव हि भवेत्

ज्ञानं भिन्नं लक्ष्यते हि

ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां तु

ज्ञानज्ञेयाविभेदेन

ज्ञानप्रसङ्गः समभूत्

ज्ञानस्य साधनं मुख्यं

ज्ञानिनां देहसंयोगे

ज्ञानिनां फलसन्धानं

ज्ञानिनोऽपि च दृश्यन्ते

ज्ञानेन्द्रियाणि ते पञ्च

ज्वालामुखस्तयोर्योग्यौ

ज्वालामुखनिन्द्यवृत्ता

ज्ञानन्त्वेकविध स्वात्म

तं प्रसाद्य मुक्तानन्दं १५०

तं भावं भावय सदा १२१

तं विना ते हि विश्लिष्टा ७२

तं विष्णुमाहुः केचिद्वै ९९

त एकदा गुरुमनु ८५

तच्च पूर्णात्मविज्ञान २१८

तच्चापि सफलं ज्ञेयं २७३

तच्चाप्यवैशमन्यस्य १९३

तच्चाऽनुवृत्तस्व १६७

तच्चाऽप्यविषयाभासे २०२

तच्चान्येषां बहिर्भाव २८५

ततः प्राहाऽमृतस्यन्दि ११८

ततः साश्वान् धातुपुत्रान् १५३

ततः स्वस्थितिमाचक्षौ १३१

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
तत् एतत्समाभात	१४४	तत्प्रदनीत्तरमप्राप्य	१९४
तत्तत्त्वमप्यहमिदं	१८४	तत्प्रवृत्तं ह्वाभिवाञ्छामि	१३
तत्तत्त्वमपि निजित्य	२९२	तत्प्रसादाग्निगूढार्थम्	२६८
ततो न बाधितं सत्यम्	२४९	तत्प्रारब्धं मनोभूमी	२६४
ततोऽप्यविदितं किञ्चित्	१७१	तत्फलं स समाप्नोति	३१
ततो भूयो नृपसुतो	२९९	तत्र का साधनापेक्षा	२५३
ततो मदुपदेशेन	१५५	तत्र चैकेन मनसा	२६३
ततो मया स आक्षिप्त	२९८	तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं	१२२
ततो विकल्पविषयी	२२२	तत्र तत्र स्थिता भूत्वा	६३
ततो विचारयेत्	२२२	तत्र तेन दोषयुजा	८६
ततो वैराग्यसंयोगात्	२७८	तत्रत्यजीवराशीनाम्	२४३
तत् कथं ते प्रवृत्तिः स्यात्	८३	तत्र दृष्टसाधनानां	९२
तत्कथं ज्ञानिनां भेदः	१८७	तत्र निर्माय वसति	४
तत्कथं बुद्धिभेदेन	२५२	तत्र पदार्थं तु यत् कर्म	३०३
तत्कथं साधनफला	१८८	तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु	२७९
तत्कथं मन एवात्मा	२३६	तत्र मूलं समुल्लेख	४९
तत्काल आगतां काञ्चित्	१९२	तत्र मूलं काम्यदोष	२७८
तत्काल एव बहूनी	१८९	तत्र यामोऽर्थं सम्प्रप्तुम्	२६८
तत्काल ईषत् सम्प्राप्य	२६२	तत्र राजकुमारास्तु	१४८
तत्केन हेतुना वेति	१३१	तत्र स्वमाङ्गदी जन	२९१
तत् केवलाभिमानोऽर्थं	४४	तत्र विप्रतिपन्नस्य	१२३
तत्तद्रूपविभेदेन	२०१	तत्र सर्पस्य बाधोऽपि	२४६
तत्ते नन्दोन्मीलनेन	१२९	तत्र सर्वं भावते वै	१२३
तत्तेऽभिवाञ्छितं ब्रूहि	१५१	तत्राजगाम शुद्धाख्या	८५
तत्ते शृणु समाख्यास्ये	२	तत्राजग्मुर्ब्राह्मणाद्या	१८९
तत्ते सम्यक् प्रवक्ष्यामि	२०८	तत्रात्मदेवतासेवा	२७८
तत्त्वं विज्ञायात्मतत्त्वं	१६५	तत्रार्थं सर्वमूलं स्यात्	२५६
तत्त्वं शोचसि कं ब्रूहि	१६२	तत्रार्थः स्यादनाश्वासो	२७७
तत्त्वं मन्ये महात्मान	२९९	तत्राऽऽख्या श्रीत्रिपुरा	१८३
तत्त्वं प्रवृत्तं समायातो	१०६	तत्रानेकान् मृगान् व्याघ्रान्	२९१
तत्परेणापि चित्तन्तु	११८	तत्रापश्यच्छुभां काञ्चित्	३२
तत् पितुस्तेऽद्य बाञ्छामि	१५१	तत्रापश्यत् सत्यलोके	१५८
तत्प्रकल्पितसर्प	१६५	तत्रापश्यत् स्वप्नजालं	११६
तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि	८४	तत्रापि मूलं माहात्म्य	२७

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
तत्राऽसत्यमन्यतरत्	१७१	तथैवास्य स्वभावोऽपि	१४६
तत्राऽऽसीन्नुपतिर्धोमान्	१४८	तदद्यापि च तेनैव	५३
तत्रैकमन्तःकरणं	२२६	तदन्तर्भासमानत्वात्	१२३
तत्रैकस्तु महेशानः	१३८	तदलं मे ब्रूया ब्रह्मा	२२५
तत्रैकांशेऽप्यहम्भावो	३०८	तदल्पफलमेवेति	१६
तत्रैवं सति नैवान्तं	८७	तदसत्यं कथं ब्रूहि	२३६
तत्समावेशसंसिद्ध्या	१२३	तदा कटकृदाख्यानं	५
तत् साक्षात् पुरुषार्थस्य	२१८	तदा ज्ञानादि सम्पत्ति	२७५
तत्साधनं सम्प्रसाध्य	९७	तदा तद्भासेते स्पष्टं	२०४
तत् सुतर्कानुभूतिभ्यां	९२	तदा तस्याः प्रीतये स	६७
तत् सुपुत्रौ विभासेत	२०७	तदा तद्व्यति पुरम्	७१
तत्स्वातन्त्र्यात् प्रभूतश्च	३१०	तदा न वेद बाह्यं वा	२१४
तथा च देशकालादि	१०१	" "	"
तथा च दर्पणाभये	१४०	तदा न वेद बाह्यं वा	२१५
तथा च वेशनिर्युक्तं	२२९	" "	"
तथा च बुद्धिभेदेन	२५९	तदा पलायनपरा	२१
तथा च यो यो यस्यान्तु	४९	तदाश्रयाणां भावानां	२३४
तथा चित्तिर्जगत्सत्ता	१४२	तदा सखी मे स्वभाव	६८
तथा चित्ति जगद्भाति	१७७	तदा सा जडशक्तिस्तु	१८१
तथा चैकस्य मनसो	२२६	तदास्ति तावन्न किमु	४३
तथा तव बचो मन्ये	८०	तदा हि परमो मोक्षः	२७५
तथा घत्तेजैकरूप	१०२	तदुक्तमविदित्वा तु	१६
तथा परीक्षन् स्वात्मानं	२८८	तदेवं ते कुतश्चित्तं	३७
तथापि कुत एतद्धि	१४७	तदेव संसारमूलम्	२२०
तथापि चतुरैर्विद्या	२८६	तदेव मन इत्युक्तम्	२४३
तथापि लोके मेऽत्यन्तं	६२	तदेव जाड्यमुख्यत्वे	१८०
तथा मनःसुषुप्तिरस्य	२०८	तदेव भवति ज्ञानं	२७३
तथा मूढा न विन्दन्ति	२१९	तदेव स्वात्मविश्रान्तिः	२४२
तथा विचित्रे जगति	१७८	तदेव ह्यात्मनो रूप	२३५
तथाऽसत्यगृहीतस्य	२६६	तदेवाखिलसंसार	१२८
तथा सौख्याय यतते	१०	तदेवाहैतद्विज्ञानं	२७३
तथा स्फुरन्त्यपि सदा	२७२	तदेवाहैतद्विज्ञानं	२७४
तथास्य न जयदेहो	१३९	तद्धि सर्वजयदेहो	१९३
तथा स्वसङ्कल्पमये	१७२	तद्धिदस्य परे पारे	२९१

श्लो०	पृ०
तद्वह्निर्वातमन्दोह	१५८
गद्गच्चरणद्वन्द्वं	१५९
गद्गुणो निहतं धात्र	१६०
गद्गुणः स्वप्नभूयः स्यात्	१६३
तद्वह्नोऽपि भुवमग्नि	१६०
तद्विषयं प्रकथय	१०६
तद्विषयं तद्वह्नयुतः	१४९
तत्र पूर्णपदं मस्मात्	१२९
तस्मात्तद्वह्नयुतं	१०५
तस्मूलको जगद्भासो	२०४
तन्मे न विदितं किञ्चित्	१५
तपसा मन्त्रमिदं च न	१३२
तपस्विनामय धर्मः	२३
तमव सर्वभावेन	९६
तथा व्याप्तं तु चिच्छक्त्या	१७७
तद्वह्नः सोऽवब्रू तूर्णम्	६९
तद्विदो विमृशाम्येता	११५
तस्माच्छ्रुत्वा मुने लोको	८३
तस्मात् कुतर्कं स यः	९८
तस्मात् केवलं तस्मात्	२८०
तस्मात् मिद्विजयता स्यात्	२८०
तस्माच्छ्रुत्वेन मनसा	२०७
तस्माच्छ्रुत्वा योनिदानं तु	१३४
तस्मात् जगन्कार्यस्य	१३७
तस्मात् सौन्दर्यमेतद्वै	५०
तस्मात् सुमत्तयोरेता	२८६
तस्मात् सङ्कल्पमात्रस्य	२३१
तस्मात् प्राक्पुण्यपाकेन	२५९
तस्मात्तस्यापि वैद्येन	२६६
तस्मात्तदेकपरता	२०४
तस्मान् ऋषयो मुख्य	२०९
तस्मात्सर्वज्ञगदितो	१४०
तस्मात् सुपुमिमात्रेण	२१३
तस्माच्चित्तवशक्तिः स	१३८

श्लो०	पृ०
तस्मादज्ञानिनां तार्थं	२९८
तस्मादज्ञपरवृत्ति	२०६
तस्मादवाधितो ह्यर्थ	१६८
तस्मादर्थं पुराऽऽपाक	१६१
तस्मादर्थक्रियाभाम	२४९
तस्मादर्थत्वमेव स्यात्	२३२
तस्मादाराधयेदादौ	९४
तस्मादापातरूपाया	२५६
तस्माद्विदं दृश्यबालं	१६८
तस्मादेता दशाः सर्वाः	२२०
तस्मादाकर्माविनय	३०३
तस्माद् दृश्यस्य बाधो तु	२४६
तस्माद् ब्रह्मज्ञं ते प्रश्नः	३०१
तस्माद् दृश्यं तव वपु	२३१
तस्माद्राम मनोमान्य	२८४
तस्माद्राम निर्विकल्मे	२४६
तस्माद्रूपस्वस्तितता लोके	१४२
तस्मात् किञ्चित् कर्मापि	३०७
तस्मात्तस्मैव विज्ञानं	३०३
तस्मात्तज्ज्ञातृरूपा ता	२६
तस्मान्महाभाषिणं तम्	९३
तस्मात्तिरोघने किं स्यात्	२२७
तस्मै किं न दिशेद् ब्रुहि	९५
तस्य ज्ञानं सुमूल्यं	२८४
तस्य पुत्रो महात्मानो	२९१
तस्य प्रत्यावृत्तिरपि	२०४
तस्य ब्राह्मस्य वक्तव्य	१७५
तस्य माहात्म्यतो मेऽत्र	३४
तस्याऽपि बहिराभासात्	१७५
तस्याभितप्यतो मेऽद्य	१५४
तस्यावभासरूपा याः	२८५
तस्याहं धर्मतः पुत्रो	३३
तां वृष्ट्वा राजपुत्रोऽपि	३२
तात्पर्यं सर्वथेतत्	२७६

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
तानि भोज्यानि तान्येव	२२५	त्रिपुरानन्तशक्त्यैक्य	१४१
तान्मे यदि प्रतिब्रूयाः	२९३	त्वत्कृपातमामृतकर	१२
तामुपासितुमिच्छामि	४	त्वत्तः श्रुतं चापि भूयो	१४७
तामेकभावानुगतौ	१०४	त्वद्वक्तृया यत् पुरा मेऽभूत्	५८
तारतम्यात् साधनानां	२५२	त्वद्भ्रातुर्वंशजः सद्यो	१६०
तावज्जाता ज्ञानमपि	२७५	त्वमप्यन्तःक्रोशमितं	१८४
तावता न हि सर्वेषां	२६५	त्वया किञ्चित्सुविदितं	१२७
तावद्भवेच्चाक्षुषोऽंशः	१७४	त्वया तु भावनासिद्धिर्वा	१७१
तावन्तो जन्मतरेवो	२७	द	
तावन्न तत्पदं प्राप्तं	१२९०	दग्धं भवेत्तव मुखम्	२९३
तावन्न फलमाप्नोति	२४१	दत्ताश्रेय प्रोक्तवचः	३०
तावन्नाप्नोति कण्ठस्थं	१९६	ददृशुस्तत्र राजर्षिः	१४९
तावुभौ निर्गतौ सर्वं	२९१	दध्युविद्या महेशानीं	२६९
तीव्रवैराग्यमुखतः	२५७	दयमानस्वभावोऽयं	१७
तुष्टाव विविधैः स्तोत्रैः	१५०	दर्पणप्रतिबिम्बस्य	३०२
तुष्टौ राजकुमारोऽपि	३५	दर्पणप्रतिबिम्बानां	३०२
तृणान्यन्यान्योपधीश्च	६८	दर्पणप्रतिबिम्बानां	१४३
तृतीया विनिवर्तते	२५६	दर्पणे प्रतिबिम्बो हि	१४४
तेजस्विनं तपोमूर्तिं	२९७	दर्पणे च जले चापि	१४२
तेन दर्पद्भिर्भवता	१४	दर्शनं जायति भवेत्	२१२
तेन व्यासा देशकाला	१७६	दशासु कामु ते सन्ति	२१४
तेन श्रुतेनाधुना त्वं	२७	दिवृक्षुश्चक्षुषा किञ्चित्	२०४
तेनापि वैद्यमखिलम्	२६५	दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा	२७६
तेनैव साधितं भूय	२६०	दीपप्रभा घटच्छिद्रा	२४४
से पुत्राः पितृवात्सल्य	६६	दीपसूर्योलोकबहि	१७५
तेभ्योऽयन्तं विभिनं चा	१३७	दुःखमारसमाग्नान्तः	६८
तेषां मनो बहुविधं	२६४	दुःखेन श्लिश्यमानाञ्च	२८
तेषामापातसंसिद्ध	२८८	दुःखैरभिहतो नूनं	१२६
तेषामेव तु केषाञ्चित्	२६३	दुर्लक्ष्यः स्यात् को हि लोके	२९७
त्यक्त्वा पश्यामीति भावं	१२४	दुष्पत्नी पुत्रसहितो	७३
त्यज ग्रन्थि सन्निह्य	१२९	दूरे किञ्चित् पश्यतस्तु	२१५
त्रिघा समभवद्दृढ	३०९	दूषयित्वा तर्कजालं	२९८
त्रिपुरा येन तेज्ज्वल	५९	दृग्दृश्ययोः परीक्षातो	२९६
त्रिपुरा परमेशानी	१०४	दृग्दृष्टि नास्ति वै दृश्यं	२९७

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
१.१ गद्ययुक्तानाम्	२६२	धावन् स्वमूर्द्धच्छायेव	१२२
१.२ गन्ते वापितोऽत्यन्त	४९	धर्मो रत्रोऽवभिमम्रोता	४६
१.३ गन्ते मणिमन्दादि	१४०	धीः केयं समारूपाता	२९४
१.४ ग्रासमन्त्रे शुद्ध	२१०	धीः स्थानमुल्लङ्घ्य तु	२९४
१.५ गृष्ट एवास्य गर्भे त	१६९	धैर्यमाश्म्य नि शोको	१७१
१.६ गृष्टमेतत् सर्वतो वै	९६	ध्यानस्य परिपाको हि	२२३
१.७ गतानुग्रहात् सर्वे	२९६	ध्यायाम्येतच्चिरान्नित्य	३९
१.८ गता स्याज्जगद्धात्री	२९६	न	
१.९ गताभिस्तन	२९२	न किञ्चिदपि जानाति	३१०
१.१० देवादिनिर्यगन्तानां	१११	न किञ्चिद्भासयेद्वस्तु	२०१
१.११ देवि भूयो नमस्तुभ्यं	२७०	न क्रुतः साधनं प्राप्ता	३०
१.१२ देशः कालोऽथवा किञ्चित्	१८३	न केनचित्तदखिल	४१
१.१३ देशकालानभिज्ञानात्	२१	न जागरस्य बाधस्तु	१६८
१.१४ देशभेदेषु दृश्यन्ते	५०	न जानाति यथा	२१९
१.१५ देशान्तराबलाकाय	१५७	न तत् सुखं भवेन्नाथ	४१
१.१६ देशदृष्टनदीदीपा	१६७	न तत्र नगरे कश्चिन्	५२
१.१७ देशात्मत्वग्रहो देह	२८९	न तत्स्वयं विजानासि	१९४
१.१८ देशाहं भावरूपस्त्वं	३१०	न तन्मया सुविदित	१०६
१.१९ देशे देशाभासमय	२१५	न तवाभिमतं त्यक्त्वा	३७
१.२० देशेन्द्रियान्त. करणा	२२६	न तां विहाय मे संख्या	६०
१.२१ देशदर्शनदुःखात्म	२३७	न ताभिरीषद्वा बुद्धं	२६२
१.२२ द्वितीयलेखं प्रसहेत्	१७८	न ते सुविदितं यम	१८९
१.२३ द्वितीयमुत्तनीतोऽथा	६४	न ते ह्यविदितं किञ्चित्	९९
१.२४ द्वितीया जन्मनैकेन	२५५	न त्वं देहः किं तु देही	१६३
१.२५ द्विधा त्रिधा वा मन्द	३१३	न त्वं शरीरं प्राणो वा	२०२
१.२६ द्विविधः स्यादनाश्वासः	२७७	न त्वा शिवादीन् लोकेशान्	२८३
१.२७ क्षापस्त्वत्र जना भावा	१७४	न दूष्यं नापि तद्वाच्य	१०९
१.२८ क्षेत्रं जगत् प्रसहेते	१७८	न फलं साधयेद् ब्रह्मन्	२२०
१.२९ क्षणज्ञानन्तु विविध	२७३	न बन्धनाय भवति	२८९
१.३० ध		न बाधितः परदिने	१६६
१.३१ धन्या प्रियेऽसि निपुणा	१०९	न भवतत्र नैकोऽपि	६९
१.३२ धन्यासि त्वमहन्धापि	८७	न भेदो लेशतोऽप्यस्ति	३०६
१.३३ धन्याऽसि भागव त्वन्तु	२२	न मां जहौ कदाचिच्च	६१
१.३४ धर्मो यः पालयिता	३४	न मुख्यफलसंयुक्त	२५६

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
न मोक्षो न भयः पृष्ठे	२३१	नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता	२७२
न वा भूयोऽपि मननं	२६१	निदर्शनं ह्यात्मकृति	७
न च्येऽनुवृत्त्यभानेऽपि	१६६	निदर्शनं तेऽभिधास्ये	९५
नष्टास्त्रिलोक्यं इव स	५७	निदर्शनं स्वत्र चेदं	१६९
न संस्मरति संवृत्तं	१३२	निद्राजाग्रन्मध्यभागे	१२३
न स्त्रियः कस्यचिद्वा स्युः	४७	निद्रा प्रकाशरूपाऽसौ	२०९
न स्वप्ने जागरा भावाः	२४७	निनाय पितरं स्थाने	६६
न स्वरूपे स्वतो भ्रान्ति	२४१	निन्द्यवृत्तं नवचित् प्राप्य	७३
न स्वस्थितेः प्रच्यवन्ते	२५१	निमज्जितास्तु ये विप्रा	१९१
न हि पीतमपीतं च	१३७	निमित्ततो ययौ शीघ्रं	४५
न विजानन्ति स्वात्मानं	२१९	निमील्य कृत्वा गत्वा वा	१२७
न हि निष्कारणं किञ्चित्	२५८	निमतिः स्यादीशशक्तिः	९८
न ह्यणवपि विक्षेपेण	५९	निरन्तरं तद्गतात्म	६१
न ह्यात्माकाशयोर्भेदो	२३९	निरुपादान एवादौ	१६०
न ह्यादेशस्वरूपेऽस्ति	११०	निरूपणं भाषणञ्च	२८७
नाकाशतुल्यं चैत न्यात्	२३९	निरूपणं बहुविधम्	२४२
नातोऽधिकं किञ्चिदस्ति	२२३	निरूप्य कौशिके तेन	८६
नात्यगाहिन भागोऽपि	१०५	निरोधे सर्वमतसाम्	२२६
नात्र रूपं रसो वापि	१२३	निर्गतायां तु तापस्याम्	१९९
नात्र हेतुं कश्चिदपि	११७	निर्गन्तव्यं तद्गणमुतो	१४९
नाथ किं ते व्यवसितं	१२५	निर्जने भीतिजनने	३२
नाथ प्रोक्तं मया यत्ते	८०	निर्जितान् भक्षयन्नास्ते	२९२
नाथ शृणु प्रवक्ष्यामि	१०९	निर्दयाश्च कृतघ्नाश्च	९६
नाऽनुवृत्तिर्भाति स्वप्ने	१६६	निर्भयः को भवेत्ल्लोके	२९६
नान्यद्गुनावहं किञ्चित्	१२	निर्भयः सङ्गरहितो	२९७
नारदं भक्तिसम्पन्नं	२६१	निर्भयो व्यवहारेषु	२८२
नाविदं लेशतोऽप्येनां	४७	निर्याणं तु चित्तेर्नास्ति	२४४
नाऽसाध्यं विद्यते लोके	१५१	निर्वीणं परमं प्राप्तो	१८५
नास्ति सामान्यपदवी	२१०	निर्विकल्पं ज्ञानमिति	२१७
नास्ति चेत्यं चित्तेरन्यत्	१३३	निर्विकल्पं पूर्णरूपं	२४४
नास्त्येव मोक्ष इत्याद्यो	२७७	निर्विकल्पसमाधि	२११
नाहं तदशकं स्पर्ष्टुं	१५	निर्विकल्पदशाम्भोधि	१५०
नाहमद्यावधि ह्येव	४७	निर्विकल्पकविज्ञानात्	२१७
नित्यनैमित्तिकपरः	५	निर्विकल्पकविज्ञानं	२१७

श्लो०	पृ०
नानिक्त्याख्यविज्ञानं	२२८
नानिक्त्या लोकायात्राया	१५४
नानिक्त्यापासतस्य	९७
नानिक्त्यात्वज्ञानाय	९७
नानिक्त्यास्तस्य तु ज्ञानात्	२१७
नानिक्त्या चतुष्टयम्	४६
नानिक्त्या दैवचक्षतः	२१
नानिक्त्या भूदता सर्वे	२०९
नूनं तदस्मिन् रोदधूता	७९
नूनं प्रिये सर्वर्थेव	८३
नूनमेते जनाः सर्वे	११३
नूनमेपोऽतिविमुक्तौ	१०८
नुणां कर्तव्यकाला हि	१७
नुपैष लोकस्तेऽसाध्यः	११५
नृत्तव्यस्तं सर्वर्थेव	१५६
नेत्रं सुसाध्योपधेन	१७४
नेत्रं निमोलयद् यावद्	१२५
नैतत्कर्णे सुज्ञेयम्	१२५
नैतद्विज्ञानसदृश	२
नैतस्य मे पितुः काला	१५१
नैतावदेव चैतस्माद्	१६
नैषां ज्ञानस्य मालिन्यं	२६०
नोक्ता चिकित्सातुल्यत्वी	५८
नो चेन्न स्याज्जीवितं ते	४५
नोपभोक्तु तत्रा शक्तौ	५७
नोन्माजितं तावदिह	२४६
न्यवसच्छान्तुमिति	८९
न्यवसत् स सुखप्रेम्णुः	६८
न	
नववध्याने निर्विकल्पे	२२३
नृतां प्रत्यहं प्रीता	२८३
नृता श्रुतिरत्यन्ता	२८१
नृत्या चपल्या साकं	६७
नृच्छ यत्तु तापस्या	१९९

श्लो०	पृ०
पञ्चल सन्दिग्धमनाः	२५७
पञ्चल ऋषिमुख्याना	२६८
परतत्त्वपरैश्चक्यैः	१३२
परन्तु तन्न विदितं	५
परमामापदं प्राप्नो	२३
परमार्थफलप्राप्नो	३१
पररूपे ह्यदेहेऽस्मिन्	१०२
परश्रेयोमहामोघ	२२
परस्पराभावभासा	२४८
परा चितिर्मे जननी	१०७
पराद्वये समाश्वस्ताः	२२२
परावरजं संगान्तं	२९८
परा सा प्रतिभा देव्याः	२७१
परा सा वा चितिर्देवी	२५८
परिच्छेदावभासो यः	२४२
परिच्छेदोऽभिमानस्य	२४०
परिच्छिन्नाज्जुवृत्तिर्हि	१६७
परित्यक्तो विनश्यामि	१५७
परित्यज भय भुज	१५७
परित्यज्याऽखिलध्वान्ति	१८४
परिभूतं स्वमात्मानं	१९४
परिहृत्य तु तां सम्पत्	१९८
परीक्ष्यैकागतः सर्वा	८१
परीक्ष्यवृत्तिमान्नीता	६१
पर्वताम्बुधिभूमुख्या	१६७
पश्यन् बालीऽपि नाऽऽदर्श	१२२
पश्य प्रत्यावृत्तचक्षु	२०३
पश्य बहून् स्वावराणा	२२१
पश्य सर्वत्र चात्मानम्	१३०
पश्यात्मानमविज्ञाय	१४७
पश्याज्ज्ञ बोधयाम्येनं	१५२
पश्येष्टदन्तः मरुध्य	१२४
पश्यैन्द्रजालिकं राम	१३४
पश्यैवमेष भगवान्	१४६

श्लो०
 पाशुमिनर्तभ आक्रान्त
 पादप्रक्षालनाद्यैस्तं
 पिङ्गकेशाः श्वेतकेशा
 पुंसां वपुस्तथा स्त्रीणां
 पुत्रं न्यस्य मदुत्सङ्गे
 पुत्रादीश्च पृथक् स्मृत्वा
 पुत्रैः पञ्चभिरानीतं
 पुनः पप्रच्छ चात्यन्त
 पुनः पप्रच्छाऽत्रिसुतं
 पुनः प्राह महासेनं
 पुनर्बुभुक्षयाक्रान्ता
 पुनश्चित्तप्रचलनात्
 पुरं प्राप दशद्वारं
 पुराणि तानि वा कुत्र
 पुरा दशार्णाधिपति
 पुरादष्टादपूर्वाज्यं
 पुरा मया हि बहुशः
 पुरा मे जननी काञ्चित्
 पुरा यत्प्राह संवर्तो
 पुरा हि पर्वतेशोभूत्
 पुरुषार्थसाधनत्वं
 पुरुषार्थोऽपि मोक्षः स्यात्
 पूजिता ह्येव सर्वैस्तैः
 पूजयाः सर्वा मम तनू
 पूर्णः सुहृदो निर्मलश्चा
 पूर्णत्वादोश्वरस्येह
 पूर्णविज्ञानमेतत् स्यात्
 पूर्णस्य विस्मृतिर्नास्ति
 पूर्णाहम्भावविच्छेदात्
 पूर्णश्रयं विहन्येत
 पूर्वविद्याऽप्यसंखलिता
 पृच्छ भागं व यत्तेऽद्य
 पृच्छ भूयः संशयं ते
 पृथक् तो प्राप्नुवः सौख्यं

पृ०	श्लो०	पृ०
२०	पृथङ्नेत्राद्यहम्भावं	३०९
१०५	पृष्टैवं सा हेमलेखा	१००
५०	पृष्टैवं तेन सा चेटी	४५
५१	पृष्टैव प्राह सा कन्या	३३
१५४	पेषानि लेह्यचोष्याणि	६५
१६१	पेशलेपूषभोगेषु	३७
६७	पौरुषात् कर्षका घान्यं	९१
८७	प्रकाशते स्वयं चैवा	१९६
२८४	प्रकाशनिविडा यस्मात्	२०९
१६९	प्रकाशस्तु सुमुखः स्यात्	१४२
६७	प्रकाशस्तेजसो यद्वत्	२४२
११६	प्रकाशो निविकल्पः स्यात्	२०९
६८	प्रणनाम पादपीठं	११
७९	प्रणम्य नाम संथाव्यो	३५
३१	प्रणम्य वमुमुन्तं तं	२९९
१५९	प्रतिबिम्बस्वरूपज्ञाः	१४३
१६	प्रतिबिम्बेष्वनन्तेषु	१९३
५९	प्रतिबिम्बो निरादर्शो	१२९
५५	प्रत्यहं चेदिका गच्छ	४४
२९१	प्रबुद्धश्चिन्तयामास	११६
२१६	प्रबुद्ध उन्मील्य नेत्रे	१२५
१८७	प्रबोधितोऽपि स पुनः	१९६
७१	प्रमाणात्लक्षणज्ञान	८४
११	प्रमातृणामपूर्णत्वात्	१३८
११	प्रयच्छाऽश्वं राजपुत्रान्	१५३
९०	प्रयतेत साधनाय	९१
३९२	प्रविवेश गण्डशैलं	१४९
३०६	प्रविश्य तं देशमपि	११७
१७७	प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च	३९
१०१	प्रवेष्टुमाश्रमोऽहं स्यात्	३४
२८१	प्रशासनपरो भूमेः	१५८
१३	प्रशनांस्त्वयापि हि कृतान्	२९९
१९८	प्रश्रयावनतो भूत्वा	१४
१०	प्रसन्नचित्त आमनस्य	१५२

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
पराजि मा समाक्रान्तु	६२	प्रोक्तमुख्यापरमयं	२७३
परागद्धविद्यानगरम्	१३३	प्रोक्तानां वासनानां वै	२५६
परागद्धविद्यानगरं	१३३	॥	
परिपक्वलेभे	११५	फलं तदेव सम्प्रोक्तं	८
परायामनाहृतज्ञानाः	३०५	फलं तु विविधं यस्मात्	१८१
पराप्रचारः सम्प्रोक्तो	१०८	फलश्रुत्युत्तरोद्भूता	२५६
परापदानं सुसंयोज्य	१५२	फलार्थं स्वप्नमर्त्यादीन्	१६६
प्राप्ते फले फलेच्छावान्	८	फलानि भोजयामास	३३
प्राप्ते विचारे परमे	२७	ब	
प्राप्ते स्वतनगरं राज	३०७	बद्धत्वा खड्गैरुवक्षोऽथ	३३
प्राप्नोति तद्विदित्वैव	१९३	बन्धो यदि तदादर्श	२४५
प्राप्य श्रीगुरुवचनान्वात्	४	बभूव विस्मितोऽत्यन्तं	१५९
प्राप्य स्वमातरं नाथ	७४	बहिः समे सुपिष्टेन	८३
प्राप्य सत्सङ्गमूलैव	२५९	बहिरर्थेषु विश्रान्तिः	२०८
प्रायो भूलोकसंस्थाना	१९१	बहीरुपं महाशून्यं	१८०
प्रारब्धं नियतिर्विधि	९८	बहूना किमिहोक्तेन	२१५
प्रारब्धबीजाङ्कुरः स्यात्	२६४	बहूनामस्थिरो नून	७२
प्रारब्धवासनाभ्यां तु	२९०	बाधो ह्यभावविज्ञानं	२४८
प्रारब्धशेषमाहात्म्यात्	२५१	बह्वागमोपष्टम्भाच्च	९५
प्रारब्धाहिनिर्गोर्णास्ते	९८	बालं माता खेल्पति	१३२
प्राह तं तज्ज्ञानमुत	१५१	बाह्य सरोरसमभूतं	४१
प्राह या मधु संसाव	३३	बाह्यमव्यक्तमभवत्	३०८
प्रियया सम्परिष्वक्तो	२२४	बिम्बानुकृतिरादशां	२०२
प्रियस्य कण्ठासक्तस्य	३९	बिम्बापेक्षा चित्तैः स्वच्छ	१४३
प्रिया न किञ्चित् प्रोवाच	५७	बीभत्सान् भास्वरान् रौद्रान्	-
प्रियाप्रिये हि जानन्ति	३९	बुद्धिर्नैर्मल्यमदाच्च	-
प्रियायाः सम्परिष्वङ्गात्	४३	बुद्धिमन्तो हि विफर्षं	५५
प्रिये कृपां मयि कुर्व	१२६	बुद्धेस्तु परिपाकेन	८०१
प्रिये त्वयाऽनुशिष्टोऽह	११८	बुद्धौ तु बहवो दोषाः	२७६
प्रिये प्रोक्तं यदेतत्ते	७९	बुबुधयिषती राज	३९
प्रिये महेश्वर ब्रूहि	९९	बुभुजे ता समाक्रुध्य	६१
प्रिये विश्रान्तिमत्यन्तं	५२५	बुभुजे तां तस्य पत्नी	४४
प्रीतः पुत्रवशं प्राणा	६४	बोधयामास चाऽऽक्रुध्य	१५२
प्रप ! त्वामद्य पश्यामि	१०५	ब्रवीमि भूयस्तत् किञ्चित्	१५२

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
ब्रह्मन् ते भ्रान्तिरद्यापि	३०१	भावयेत्स्वातन्त्र्यमात्रा	१८६
ब्रह्मन्नेवं श्रुतं भूयो	२२८	भावातां ह्याद्धि साङ्ख्यं	२३४
ब्रह्माभावनया पश्य	१७२	भावाभावात्मकं वस्तु	२३२
ब्रह्मविष्णुमहेशाना	२६०	भावितं तेनैवमेतत्	१८३
ब्रूहि का ते भवेद्विद्या	१९१	भासकं सर्वमपि च	२३०
ब्रूहि किं तेऽभिलषितं	१५१	भासकं तु न देहादि	१७५
ब्रूहि यत्तेऽपरं रूपं	१७०	भासकस्याऽपि भास्यत्वे	१७६
भ		भासते केवलं राम	३०९
भक्त्या निरूपणसमं	२८६	भागते स्वाच्छ्रितशक्त्या	२३४
भक्षयामासुरस्थन्त	२०	भासमानं तु मणिवत्	२५३
भक्षिणी कालदेवानां	२१३	भासमानत्वतः स्वस्मिन्	२४१
भक्षितस्यापि सर्वस्य	५१	भासमानस्य तु मम	११५
भगवन् गुरुनाथार्य	१४	भासयंस्तत्र द्रष्टृणा	२४०
भगवन् संश्रुतं प्रोक्तं	१४७	भासयेद्वितीये स्वे	१७८
भगवन् यत्त्वया प्रोक्तम्	१८६	भास्यं तु भाननिर्माणं	१७७
भगवन् भवता प्रोक्तं	२४५	भास्यभेदेऽपि भासस्तु	२३१
भगवन् भूय एतन्मे	२५२	भिन्नस्थितीन् स्वभावेन	२६१
भगवन् कृपया ब्रूहि	१५	भीतापचारात् पत्युः सा	३४
भगवन् गुरुणाऽद्योक्तं	३०	भुवनान्यपि सर्वाणि	१५८
भगवन्नद्भुतं होतत्	१९९	भूतान्याभास्य देहात्मा	२४३
भगवन् श्री गुरो यत्ते	१३५	भूयः किं कर्तुमिच्छामि	२२६
भगवांस्तु जगत्कर्ता	१०१	भूयः पश्यामि चेत्त्येवं	११६
भजध्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य	१३३	भूय इच्छाम्यहं श्रोतुं	५६
भगवन् ज्ञानिनो लोके	२६७	भूय एवंविधा दृष्टाः	२६३
भगवन् किं तेन पृष्टं	३००	भूयस्त्वदुक्त्या च सम्यग्	३००
भयं द्वितीयसङ्कल्पात्	२७४	भूयो ज्ञानवासनाया	३०५
भाति सत्याऽऽत्मरूपेण	१८५	भूयोऽतिनिपुणोऽप्यन्त	१९६
भार्गवाय समाचर्यो	१९९	भूयो दृष्टं सपूर्वं हि	१३६
भार्गवैवं हि सा संवित्	२२९	भृगुरत्रिरङ्गिराश्च	२६७
भावकालो परिच्छेद्य	२३३	भृङ्गसङ्घस्य शीतञ्च	६४
भावना ह्यप्रमाणत्व	१६९	भृत्यो निधाय पानं स	४४
भावनाप्रभवं होतत्	१७१	भेदप्रचुरसंवीता	१८१
भावनाभावसंसिद्ध	१८४	भेदलेशमपि नवापि	३१०
भावनायाः सिद्धिरत्र	१७२	भोगवैरस्यमपरं	१०७

श्लो०
गदस्त्वोपाधिको भाति
भोगाहूतो सन्दिशति
भोगेषु जातनिर्वेदः
भोगेषु रोगभीतिर्न
भार्यं वस्त्रं भूषणं वा
भ्रमन् शोनिविभेदेषु
भ्रात्रादेस्तव देहांशः
भ्रान्तिः सर्वसमा वापि
म
मज्जितं पितरं श्रुत्वा
मणिद्वीपे नीपवने
मत्वाऽनाश्रुतमनसा
मत्वा ज्वालां निजे देहे
मदर्थभूतताहेतो
मदेकसंज्ञाद्युक्तिं सा
मदिरा मोहनायाय
मधुलीबा इवात्यन्तं
मधुलीबा रसमिव
मध्यज्ञानी निरोधस्थ
मध्यमस्य विस्पृतिर्ना
मध्यानां जानिनां तच्च
मध्ये मध्ये पूर्णदशा
मनसाऽप्येवमेव स्यात्
मनसैव हि बन्धः स्यात्
मनुष्यादिबिभेदेन
मनो बुद्धिश्च नाहं स्यां
मनोभूमेरभावेन
मनोमात्रशरीरः सन्
मनो यदि भवेन्नष्ट
गतो यदात्मनो न स्यात्
गतो विलीनमित्येवं
गतो वै निश्चलं यत्र
गदज्ञानभिरात्मा तु
ग य सर्वं मया प्राप्तम्

पृ०
१८३
६७
५२
५८
५७
२५८
१६२
२३६
१९१
२७१
२६८
२०
११४
७४
४४
१३३
२९०
२९१
३०६
३०४
२८९
२०४
२३५
२३९
११४
२६३
१५६
२६२
२३५
२११
२६६
३०५
४

श्लो०
सम क्रिया कथं का स्यात्
ममानां बहुविधं
ममार्थमखिलं त्यक्त्वा
मर्मश्चर्यन्तु वृषयः
मया च आवितोऽयत्नं
मयाऽन्तःप्रदेशस्थ
मया बुद्धेः सङ्गमस्तु
मया विरहिता त्वां न
मया शास्त्राणि सर्वाणि
मया सङ्गम्य मन्मातृ
मया स्वस्थितिमापृष्टः
मयि सोऽथ दयाचक्रो
मयैकदिनरूपेण
मलभूवपरिक्लिप्तं
मलभूतंकुसुलं तव
महत्तरं मानसं स्याद्
महाकलेशपरीतस्मा
महादेवप्रसादेन
महादेवोऽवचारेण
महाधनी सदा भीतो
महत्तन्दास्यनानन्दा
महाभागास्ते हि धीरा
महामन्त्रवती चाहं
महामाहस्तु तत्पुत्रो
महाज्ञना प्रति वत्रे
महाशनायामासक्तः
महासती मे जननी
महासत्ता जगद्भास
महासेनोऽत्यन्तशक्ता
महेश्वरस्य स ततः
मां जित्वाऽवरजं ह्यस्य
मां ददर्श व्याघ्रपादः
मां दृष्ट्वा रतिमिच्छन्ती
मां सङ्गतेन तेषां वै

पृ०
२२६
२७२
११२
२७२
७२
१८३
१०८
३७
१९३
७४
१५
२९९
१८३
४९
५१
४१
७१
१५३
२४
२९६
७०
२५
७०
१०७
६७
६७
७०
१३९
१६१
२५९
२९२
३४
१५४
७०

श्लो०	पृ०
मांसलिप्तमसृक् क्लिन्न	५१
मानसाश्च मनोमात्रा	१७५
मामनाराध्य परमा	२७३
मायापरचितोऽप्यन्त	२४०
मायावरणमप्येतत्	२४०
मालिन्यशेषचित्तास्त	२२१
मालिन्यमुपदेशस्य	२५४
मिथ्यावासनयाविष्टो	३०६
मिलिता मन्दज्ञानिनाम्	३०५
मीमासां चक्रुरत्युच्चैः	२६७
मुक्ताचूडप्रिया चापि	५२
मुक्ता हि ज्ञानिनो लोके	२५०
मुनिपुत्रः पुनः शैला	१५९
मुनिपुत्र शृणु वचो	२००
मुनिपुत्राभिधास्यामि	१९५
मुनिपुत्रेण योगेन	१५७
मुनिपुत्रो वचः प्राह	१६२
मुनीन्द्रा नाहमप्येतद्	२६८
मुमुक्षा या मुख्यतमा	२५७
मुमुक्षामन्तरा यत्तु	२५६
मुमुक्षामन्तरा यैस्तु	२५६
मुष्टिभिश्च शिलाभिश्च	२१
मुहूर्तमभवं भूय	२२४
मूढः श्रुतज्ञानहीनः	२१९
मूढा न हि विज्ञानन्ति	३११
मूत्रोच्चारकलेष्मनश्च	१६३
मूषकैरुपदीकाभिः	१६७
मृत्युरप्यात्मतां याति	३
मृषानुवृत्तिस्तत्रेति	१६७
मृषा हि तपसां हन्त्री	८०
मेघाविनां ज्ञानिनां तु	२६५
भोक्षं नापेक्षते क्वापि	२८३
भोक्षः पूर्णस्वरूपस्या	२३३
भोहगन्धान् ज्ञानगन्धान्	६६

श्लो०	पृ०
मोहयत्यल्पकोऽपीह	९३
मोहादेव समुद्भूतो	९३
य	
यः परावृद्धिरेवास्ते	२००
यः पुरा विषयः सर्वो	८१
यः स्वात्मनि तु सर्वात्मा	२८२
य एवं विस्मम्भपूर्वम्	४८
य एवमतिबोभस्ते	५१
यच्चापि लोके फलवत्	८
यच्चिराद्वाञ्छितं किञ्चित्	२१४
यच्छोर्करनुसम्भिनं	९२
यच्छोचनमकृत्वा तु	१६२
यतः प्रमाणानपेक्षम्	१२२
यतः सर्वं चित्तमनु	१३३
यतः सर्वान्तरं तत्तु	२८६
यतः सा विदिता सम्पक्	१८९
यतः सुषुप्तो चलना	९०
यतः स्वप्नेष्वयं जीवो	१००
यत आकारभेदो हि	२०१
यत एतद्वेदितुः स्यात्	२०२
यत एवं महानर्थं	९०
यतोऽत्र विद्यां तिर्यञ्चो	५३
यतो न तेषां सहज	२८८
यत्तद्विज्ञासते किञ्चित्	२००
यतो बह्विः कालभेदात्	४०
यत्ते परं वज्रदेशे	१६०
यत्त्वं निमील्य नेत्रे स्वे	१२८
यत्त्वया विदितं तत्तु	१८९
यत्पदे विदिते सर्वं	१९२
यत् प्राह राजतमय	४६
यत्र कीराः पञ्जरस्था	१३३
यत्र ता ग्रन्थयः सन्ति	१२८
यत्र तत्र व्रजति तत्	२८६
यत्र सर्वं जगदिदं	२७०

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
यदा स्थिता न मुह्यन्ति	१२७	यथा स्वागतः कृष्णः स्यात्	२३८
यदा मन्त्राश्च एवार्थः	२४	यथा स्वप्ननिधिप्राप्तिः	१८९
यथाभावश्चित्तेर्ब्रूयात्	१३९	यथा स्वप्नात् प्रबुद्धो वा	१६५
यथा जाग्रति वस्तूना	२४७	यथा स्वप्ने मनस्तद्वत्	२३०
यथा कश्चिद्विदेतत्	२७६	यथाहं ते ममत्वेन	११२
यथा कश्चित्स्वकण्ठस्थं	१९६	यथाहं कश्चिन्नदीको	८०
यथा कविन्दटन्मिक्षा	१२६	यथा हि मन्त्रिपातेन	२७
यथा कश्चिदध्यान्तचित्तः	१२०	यथा हि भिन्नं नगरं	१७८
यथा क्रौडन् कुमारेण	२९०	यथा हि दीपो विषया	१९६
यथा क्षयामयाविष्ट	९	यथा हि दर्पणे भावा	३११
यथा घटो मासतै हि	१७५	यदर्थो देहादिभावा	३११
यथा धाणोलामवता	३	यदस्तीति भाति तत्तु	१४६
यथा जाग्रति जाग्रत्वं	१६८	यदा चित्तं भायाद्वै	२४८
यथा ज्ञानिशरीरं तु	२६०	यदा तदा समुक्षत्वं	२२०
यथा तरङ्गा जलध्रे	७०	यदात्य त्व कथं प्रश्न	८४
यथात्यन्तमुमेधावी	२६३	यदात्मनोजन्यदेव	२७५
यथा त्वं मयि चाल्यन्त	४८	यदा यत्र च सा नास्ति	२०६
यथा दग्धाखिलाङ्गस्य	९	यदा यद्रूपतो यस्मिन्	१२८
यथाऽऽदर्शं विना किञ्चित्	२३८	यदा विचारमुला	२८९
यथादशभावा एव	३१०	यदा सा न प्रकाशेत	१९७
यथादर्शो नगरताम्	३१२	यदि कर्त्तव्यसंशेपेऽपि	९
यथा न सन्ति तद्वद्वै	१३९	यदि त्वं देहभित्तोऽसि	१६४
यथा नाटकवृत्तेषु	३०५	यदुक्तं वेदकाभावात्	१९४
यथा निद्रामोहितात्मा	१६५	यदुपाश्रित्य वै सर्वं	१९३
यथाऽनेकरूपविशेष	१७८	यदेव जगदाकारं	२७०
यथाऽन्यकार्यसक्तस्य	२६५	यद्यप्यकर्तृक लोकम्	९४
यथा पित्तप्रवृष्टाक्षो	१७४	यद्यप्यनुलङ्घनीये	९८
यथा प्रकाशे व्युत्पन्नो	१२०	यद्यस्याभिमतं तन् स	८७
यथा मनोरथं बद्धं	२४५	यद्वाजा प्रत्युवाचैनं	१९९
यथा यो मां भावयति	२७२	यद्वशादेव संसार	१२८
यथा लोकभातमपि	२३५	यन्मत्तोऽप्येष देवपि	२
यथा शराविद्धहृदः	९	यथा किङ्कस्तां प्राप्ता	४१
यथा शास्त्रज्ञता लोके	२८६	यस्तं प्रसादयेत् सम्यक्	९३
यथा गृहघसर्वाङ्गा	२५७	यस्तु श्रुत्वा शुक्रवारा	२१९

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
यस्तृतीयो ब्रुद्धिदोषो	२७८	योगसामर्थ्यतः शंके	१५६
यस्त्वया बाह्यसंरोधे	११९	योगिनः पश्य सृष्टिं तां	१४५
यस्मिन् ब्रह्माण्डकोटीनां	१२७	योगिनां गुह्यकादीनाम्	१४६
यस्य भानावमानौ च	२८७	यो देहयात्रानिर्वाहः	२८९
यस्य मे करुणासिन्धु	३	यो यथा सङ्गमाप्नोति	५६
यस्य साक्षाद् ब्रह्मपदम्	२८०	यो यथा भावयेदेतत्	१४८
यस्य स्वभावादत्यन्त	२६०	यो योजयति विज्ञासुम्	८१
यस्य स्वभावात् संशुद्धं	२६०	यो हि लोकेऽलमयात्र	९३
यस्यां क्रियायां देहोऽयं	२२७	र	
यस्यैवं बाधयोगः स्यात्	२३२	रक्तान् दवेतान् पीतनीलान्	६५
यस्योत्साहो भवेज्जानं	२८७	रज्जुसंपरिध्रान्ति	२४६
यां चितिं समुपाश्रित्य	१४१	रत्नावेशात् परिश्रान्तिः	४३
या चितिः परमेशानी	३०८	रामस्तृष्णा परिच्छिन्ति	१८१
या चितिरचाऽत्र विच्छिन्ना	१८०	राजंस्त्वयोक्तमन्येभ्यः	२०७
या महाव्यवहारेषु	२८१	राजन् विमृश धैर्येण	१६२
यावत् कर्तव्यवेतालात्	१९	राजन् विदेहाधिपते	१९९
यावदन्यत् फलं प्रोक्तं	२७५	राजन् यदुक्तं भवता	२१४
यावदन्वेषणं कुर्यात्	१२१	राजन् न साध्यं होतस्ते	१५२
यावत् त्वमात्मनि मम	१११	राजन् विमृश कस्त्वं वै	१६३
यावदेतद्धि विज्ञानम्	१९६	राजन् शृणु महादेव्या	१६४
यावद् दृष्टिः प्रवृत्तिं तु	१९७	राजन् मुखञ्च दुःखञ्च	४०
यावद्बन्धभ्रान्तिमेनां	२४५	राजन् स्वात्मनि सम्पश्य	१७८
यावन्न विदितं स्वात्म	१६५	राजपुत्र तनुरियं	५१
यावन्नान्तर्दृष्टिमेति	१९८	राजपुत्र सूक्ष्मदृशा	१२३
यावन्निवारयेत्तावन्	२४४	राजपुत्र किञ्चिदहं	३००
या सा पराचितिः पूर्णा	३०८	राजपुत्रो वर्नं प्रागात्	४८
या स्थितिः शारदाभ्रस्य	४७	राजामात्याश्च गुरवो	११३
गुह्यास्वहं मज्जयामि	१९१	राजा त्रितीर्णो विषयः	५९
ये न जानन्ति सदसत्	२२१	राजा हि रक्षिते लोके	१५३
येन तात्पर्यतश्चापि	२७८	राक्षसा परमा देवी	२६
येन लोकाः पुण्यतमा	३३	रामः सर्वजनारामो	३
ये नष्टमानसाः प्रोक्ताः	२६३	राम कर्मवासनाभि	२६२
येषां तल्लेशकश्चित्ते	२६१	राम तत्ते प्रवक्ष्यामि	३००
येषां समाराधनेन	२२२	राम ते भानसी सृष्टिः	१४१

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
गममायादेव चितिः	२४८	वातनुमाध्रलेख	१९८
गम बुद्धिमतां श्रेष्ठ	१८८	वाद्देष्टु निजितान् भर्त्यान्	२९३
गम गः परिपूर्णस्मिन्	२४२	वामनावेगवशात्	५७
गम यावन् जायेत	१०४	वामनाल्प्याधिव्यभावात्	२५३
गम माधु स्वया पृष्टं	२३६	वासन्तिकामित्र लतां	४६
गमभीमनुमात्येव	२८	विकल्पाच्छादनादेव	२२८
गमाम्भोधी तरङ्गाणा	२५५	विचारशितयन्त्रेण	२५३
गमाल्लक्ष्यं त दृष्ट्वा	२९२	विचारशीतलक्षणं	२६
गितं विप्रलपितं	६४	विचाराद्विष्णुमाश्रित्य	२३
गिरास्थ्यादिसङ्घातः	११४	विचारानुद्धानपूर्वं	२२८
गोघं चित्तं तु हठात्	११६	विचाराकांक्षविचारान्ध	२६
ल		विचारण भवेच्छ्रयः	२०
लक्षितो मे स भगवन्	१७	विचारेण स नश्येद्दे	२९५
लभालाभौ सन्तुमित्र	१३१	विचारोदयपर्यन्तं	२७
लिखितं दृष्टिदोषघ्न	३१३	विचार्य स्वात्मनो भावं	१३१
लोकस्य गतिमेतान्तु	६	विजिज्ञासितजिज्ञास्यो	११
लोकस्थितिरिदं नैर्यं	१६०	विजित्य वार्कण सिन्धो	१९१
लोके द्विजानामृषयः	२८१	विज्ञातं तद्विचारेण	२२४
लोकेऽपि कामी काम्यस्य	२७७	विज्ञानफलहीनेन	२२७
लोकेऽपि गच्छन् मार्गेषु	२२७	विज्ञानवृत्तसर्वस्वं	१९९
लोकेऽपि बन्धनिगमात्	२३२	विज्ञानस्य फलं सर्वं	२७४
व		वितता चितिराकाश	२९४
वक्ष्यस्यनेकसाहस्र	७९	वित्तिरभ्या यथा वेद्य	२०१
वत्साऽऽशु गच्छ तं देशं	१५०	विदितं तत्पदं भूयो	१९३
वत्सोतिष्ठ चिरादद्य	१५	विदिते प्रतिबिम्बत्वे	३११
वत्सैतदविदितैव	१९५	विदित्वैवमवेद्य च	१९८
वदन्तृषिणः किं वो	२६९	विद्यात्मिका वा त्रिपुरा	२४६
वदन् भवान् किं स्वरूपो	१६४	विद्या बुद्धिदर्शनश्च	९२
वदाऽऽहूतो कारणं मे	११८	विद्वत्ता हि स्वसचित्ति	२८६
वदेवं सस्थिते लोके	५१	विद्वांसः शतशो विप्राः	२९८
वरं तिर्यक् कीटकुमि	४२	विधयो विविधा आसं	३०९
वमुमानिति विख्यातः	२९८	विधूय वासना सत्याम्	३०६
वामिनश्च व्यासमपि	२६९	विना तेन न तत् प्राप्तं	११९
वाञ्छाशतसमाविष्टो	४२	विना मां च क्षणोऽप्येको	१०५

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
विनाशमीयुस्तन्निग्राः	८९	विसृज्यानुचरान् सर्वान्	११३
विना सत्सङ्गनः केन	३१	विस्मितोऽभून्महासेनः	१५८
विन्दन्ति रतिमत्यन्तं	४८	विस्मृतस्व मया यस्मात्	५
विपरीतप्रहृष्टचापि	२५४	वृक्षान् केचिच्छिलाः केचिन्	३२
विपरीतनिश्चयेन	२७७	वृद्धप्रज्ञो हि जनकः	१८९
विपरीताभ्यासवशात्	२६२	वेद्यं विना तु संवित्तेः	१८७
विपरीतो निदचयः स्यात्	२७७	वेद्यहीना भवेद्वित्ति	२६६
विप्रवैषधरो नेतुं	१९०	वेदिकं वैष्णवं शैवं	२
विप्राः शृगुण्डं मढाकयं	८५	वैरस्यं भोगवृन्देषु	२२२
विप्रान् विमोचितान् सर्वान्	१९२	वैराग्येण मुमुक्षुत्व	२५७
विभज्य संस्थितं सर्वं	१५८	वैषम्यहेतोर्मृग्यत्वात्	१३७
विभावय सूक्ष्मदृशा	२४७	व्यत्यस्तमूर्ध्वाध्वरतो	१७४
विभावय सूक्ष्मदृशा	२३०	व्यत्यस्यन्ति सुतर्कण	९१
विभिदुर्गण्डशैलं तं	१४९	व्यवहारं करोत्येष	२९०
विमना इव सञ्जातो	१९४	व्यवहारं च कुर्वन्ति	३०२
विमर्शभेदाद्भेदो हि	२११	व्यवहारः स्थिरप्रायः	६
विमर्शाभावमात्रन्तु	२१२	व्यवहारपदा वित्ति	२६६
विमुखां त्वयि भोगेषु	३७	व्यवहारपरप्रास्त्वेके	२६८
विमुख्य गुरुणा प्रोक्तं	१८६	व्यवहारस्वशाज्जानं	३०१
विमुख्य स्मरणद्वारा	१९८	व्यवहारप्रसिद्धचर्च	२७६
विराजते विचारेण	२३	व्यवहारपरो भावा	२८२
विरूपतोल्लेखन वा	४९	व्यर्था सापि भवेन्मन्दा	२५६
विलोक्यते या हि योषित्	४८	व्याप्त्या वासोमध्यमपि	२८९
विवाहमकरोत्तस्य	३६	व्यावृत्तिः स्पर्शहीनेयं	२४१
विविधा या वासनोक्ता	२६१	व्यावृत्तिर्वा परिच्छेदः	२४२
विवेकवार्तापरमं	१३२	व्रजाम्यहं त्वया चैतत्	१९८
विवेचनं नास्य भवेत्	१६९	श	
विवेशाश्वं समादाय	१४९	शक्येषु स्थूलभूता सा	२७८
विशालनगरं तच्च	५२	शङ्कितोऽमर्षितश्चापि	४५
विशेषलेशरहित	२३०	शक्तीशृहं देवपति	४५
विशेषस्तत्र चैतन्य	२३९	शप्त एवमहं तेन	२९८
विश्वकर्ममुखानां च	१७२	शयनानि च वासांसि	६५
विषयेषु प्रसक्तेषु	५७	शरीराशात्मना भासि	२३०
विषयान् सेवमानोऽहं	५९	शशास राज्यं वृषतिः	१४८

श्लो०	श्लो०	श्लो०
११०	२९८	१५९
१११	१९०	३०
११२	१३०	१३५
११३	१३२	१४७
११४	१७७	२५२
११५	३०७	९०
११६	१९५	२७२
११७	४०	२८५
११८	४०	३११
११९	८०	१५९
१२०	२६७	१६९
१२१	३११	१७
१२२	१८०	१२
१२३	२०६	८१
१२४	२४०	१८
१२५	२७	९१
१२६	२८	१
१२७	९४	२११
१२८	९९	८
१२९	६९	८२
१३०	२६८	१२
१३१	२७०	१२
१३२	१२०	४
१३३	२११	१
१३४	२१४	१५५
१३५	२१७	२०७
१३६	३०२	२८३
१३७	८१	२१३
१३८	१२७	२१३
१३९	८१	१५८
१४०	१२३	५२
१४१	१६६	९९
१४२	१७३	१०९
१४३	१७५	२८४

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
श्रुत्वैतदथ सन्तुष्टी	२९७	सङ्गतः सन्निधां प्राप्नो	३१
श्रुत्वैतद्भार्गवो रामः	१९९	सङ्गम्याथ तया राजा	३४
श्रुत्वैवं हेमचुडस्य	१३५	सङ्गेन हेमलेखायाः	५३
श्रुत्वैवं जनकेनोक्तं	२१४	सङ्घातस्यैकदेशस्य	१६३
श्रुत्वैवं राक्षसकथां	३००	स तमव्यक्तभागन्तु	३०८
श्रेयः प्राप्नोति सहसा	२५९	सत्तर्कसंश्रयेणाशु	९०
श्रेयस्तद्वि विजानीयात्	९२	सत्यं प्रोक्तमिदं नाथ	५६
श्रेयो न प्राप्नुयात्लोक	८५	सत्यं स्वभावं नो मुञ्चेत्	१४५
स		सत्यं सुपुत्री मनसः	२०७
संक्षेपेण पुनर्बुद्धि	३०८	सत्यं राजकुमारैतन्	३०१
संयोगो विप्रयोगान्तः	२७५	सत्यं स्त्रियो मुग्धभावा	४०
संयोज्य बोधयामास	१५६	सत्यज्ञानवासनया	३०५
संवर्तमवधूतेन्द्रं	१५	सत्यप्यनेकवैचित्र्या	२४२
संवेदनं सत्यमेकं	१८६	सत्यस्मिन् निश्चये भूयात्	८४
संश्रुत्यैवं भार्गवोक्ति	१३	सत्याः स्फुर्वाद्यहेतोस्ते	२३२
स एको बहुधा भूत्वा	७१	सत्यासत्ये विभागेन	१४५
स एव माञ्च सङ्गम्य	७२	सत्सङ्गशास्त्रयोगैश्च	२५४
स एव सर्वथा सर्वः	१००	स ददर्श विगाहन्ती	३४
स एव विपरीतो वै	१४६	सदसद्वापि हि जनः	२५८
स एव तेषामात्मा स्यात्	२४३	सदा विभेति को लोके	२९६
स एव भारनाहाक्षी	३११	सदाशिवादित्तम्बान्ता	३०९
स एव भूयः स्वातन्त्र्यात्	३०९	सदा सदागमायत्त	८७
स एवाद्य साधयति	८१	सदगुरुं प्राप्य तत्प्रोक्त्या	२२२
स कर्ता घटकर्त्तव	१००	सन्तप्त इव नीहारं	१५
सकर्तृकं जगदिदं	१३८	सन्तपिताः पितृगणा	१४
स केवलं देवहूतः	२	सन्ति कामक्रोधमुखा	२७८
सखीं न प्राप्तवान् मातु	७९	सन्ति स्थूललक्षणाणि	२८६
सखीदुःखाद्वतप्राया	६९	सन्तुष्टः प्राह करुणा	२८४
सखीसंयोगतश्चैव	७०	सप्रपञ्चाज्ञाननाश	२१८
सख्या प्रियेण पुत्रेणा	६२	स प्रपञ्चान् समुद्धर्तु	९५
सङ्कल्प एव स्वातन्त्र्यात्	१४४	स ब्रूयात्ताहमस्मीति	२४९
सङ्कल्पवर्जनादेव	२३५	समं नास्ति मनुष्यत्वं	२२१
सङ्कल्परूपिणी तस्या	४९	समनस्कास्तु ते प्रोक्ता	२६३
सङ्कल्पो भावना प्रोक्ता	१७१	समयेन विज्ञेयामि	१९१

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
गमादाय विनिर्गत्य	१५९	सर्वसाधनसम्पत्ति	२७९
गमाधितः सगुत्तिच्छेत्	१५१	सर्वहृत्पद्मनिलय	२६
गमाधिर्वै स्वरूपस्य	२६५	सर्वोत्तमा धोजयति	९५
गमाधिश्च सुषुप्तिश्च	२११	सर्वोत्तमभूतं यदृषं	२१३
गमाधिस्त्वपरिचयात्	२१२	सर्वनिन्दघनाकार	२११
गमाधी केवलचित्ति	२११	सर्वानुस्यूतसंवित्ति	३०७
गमाध्यतत्परो भूधात्	३०६	सर्वश्रियं सर्वरूपम्	१२४
गमानयत्स्वलोकस्थान्	१९२	सर्वश्रियं सर्वगतम्	२०५
गमाश्लिष्य रतिशान्ता	४६	सर्वासि सर्वसारसि	२६९
गपीपमुपमृत्पाशु	११७	सर्वे वेदितवेद्यास्ते	१३८
गपीहृते यत्र घन्तुः	६३	सर्वे शोचन्ति यत् कश्चिन्	१६४
गमुद्रवलयो पृथ्वी	१५५	सर्वेषांश्च समानं स्यात्	३०३
गमपूर्णता सदापन्ना	१२	सर्वेषामस्ति वरि नेत्	२१५
सम्प्रत्ययोध्यामध्यास्ते	१४	सर्वैर्जीते मटेऽस्य	१०१
सम्प्रवृत्तिविरुध्येत	१२६	सर्वैर्निनिव्यतामान	३०
सम्बन्धोऽपि तैकदेशः	२३४	सर्वोऽपि स्वात्मना हृत्	११३
सम्भेदात् विकल्पेन	१७३	सर्वोऽपि व्यवहारोऽर्थ	३०१
सम्भगेनेति तदुद्बुद्धा	७	सर्विकल्पतजसापन्ने	३०१
सर्वे शृङ्खलसि सततम्	६१०	स शीलपुरुषो व्योके	२१२
सर्वे जानाति तत्काले	९७	स साधनप्रयत्नोक्तं	२५९
सर्वकर्तव्यवैकल्या	१७	स स्वरूपात्मकत्वात्	२२१
सर्वजाश्रुतविज्ञानम्	२४९	सहस्रबाहुयुगपद्	२६४
सर्वज्ञानाप्यकिञ्चिज्ज्ञा	७५	सह्याचलवनं धीमं	२१
सर्वैरस्तु विचारैः	२३	सा कर्मदासना प्रोक्तं	२५४
सर्वत्र व्यवहारेषु	२८१	सा केवलमनोरुपा	१४१
सर्वत्र दूषयते लोक	१३७	सा चित्तिः परमा शक्तिः	१८५
सर्वत्र हि विवादेषु	१९५	सा त्वन्यस्मिन् राजसुत	४४
सर्वत्राखिलमात्मानम्	१३०	साद्यकस्तु तदा स्वात्म	२८७
सर्वथा तु समुत्पत्तिम्	१५६	साधकत्वनजगद्गुणे	३१०
सर्वदेहासमधिकं	४	साधनापेक्षणं तस्य	२५३
सर्वमेतत् सुकृपया	१७	साधारणं जगद्भाति	१०४
सर्वव्याप्यरूपा सा	७०	साधारणं स्थिरं स्वार्थं	१४९
सर्वविज्ञानात्प्रकृतं	२७४	सापि रज्जुश्चित्ति यदा	२४५
सर्वसन्देहनिर्मुक्तो	३०७	सा प्रमाणान्तरकृता	२५

श्लो०
 सा प्रिया तस्य चपला
 सा भवद्रूपिणी देवी
 सामान्येन विभान्तं मां
 सा भुमुसा भवेत् तीव्रा
 सारथिः स्यादेवमेव
 सारभूतञ्च सुलभं
 सा वा सखी मे कुत्रास्ते
 सा विचित्रविद्याश्चर्यं
 सा समाच्छाद्य तान् सर्वान्
 सा स्वप्रभा दुश्यरूप
 साश्वराजकुमाराणां
 सिंहादिगजितं मेघ
 सिद्धस्यैषा स्थितिः प्रोक्ता
 सिद्धिरित्युच्यते प्राज्ञै
 सिद्धेस्तु परमां कष्टां
 सुखं वाञ्छावशेषेऽपि
 सुखं वैषयिकं श्रेष्ठं
 सुखदुःखावभासानां
 सुखबुद्धिश्च दुःखेषु
 सुखसाधनभूतेषु
 सुखापिनो दुःखसङ्घं
 सुखिनस्ते हि लोकेषु
 सुतर्कितेन कालेन
 सुदग्धा निन्दिता लोकं
 सुदुर्लभं तेष्वपि च
 सुबुद्धानां क्षणेनैव
 सुबोधिता त्वया चाहं
 सुखी सुगुणो बोधो
 सुलभं शीघ्र सम्प्राप्य
 सुषुप्तिः क्षणिका तद्वत्
 सुषुप्तो सर्वजगतो
 सुषुप्तो प्रकृतिर्ज्ञेया
 सुषुप्ते पञ्चतनयान्
 सुहृदाः समाधायः सन्ति

पृ०
 ६३
 १५
 २३०
 २५७
 २९०
 २८४
 ८०
 ६०
 ७१
 २३१
 १४९
 ६४
 ३०६
 २८०
 २७०
 ४१
 १२६
 २१७
 २८
 ५०
 १३६
 ९
 ११
 ६८
 २२०
 २२३
 ४०
 ३१
 २८५
 २१२
 १६८
 १८२
 ६३
 २१२
 श्लो०
 मृष्टौ वा प्रलये वाऽपि
 सैव तत्तत्त्वमित्येव
 सैव सिद्धिर्नेतरा तु
 सैव हैरण्यगर्भाख्यां
 सैषा म्लाना भवेन्निश्चया
 सोऽद्वैतात्माऽहमस्मीति
 सोऽन्येषां नाशयेन्मोहं
 सोऽपि गण्डशिलान्तस्थो
 सोऽपि प्रियासमादिलष्टो
 सोऽपि शून्यात्मतां प्राप्तः
 सौधेषु वनराजिषु
 स्थानं तदुपलब्धो किं
 स्थिताप्यनेका सम्पूर्णा
 स्थितायां शुद्धसंवित्ती
 स्थिरं तावद्भवत्येवं
 स्थूलान् कृशानपून् दीर्घान्
 स्फुरत्येव हि सर्वेषां
 स्मराम्यनुभवाम्यन्त
 स्वतो न भासते क्वापि
 स्वनियत्या कर्मपाकं
 स्वरूपं सर्वतः पूर्णम्
 स्वपक्षरवेन जानीयु
 स्वप्नस्तु मानसोल्लासः
 स्वप्नादिष्वप्यवस्थासु
 स्वप्ने वापि कुतोऽन्यत्र
 स्वप्ने दृशिः क्रिया कार्यं
 स्वप्ने न जायते जाग्रन्
 स्वभावसत्यपि मुघा
 स्वभावतस्तु शोचामि
 स्वभावतो विरुद्धा वै
 स्वभावस्थं स्वरसतो
 स्वभावाद्यस्य वै बुद्धेः
 स्वमायया स्वमज्ञात्वा
 स्वयं स्वदृष्टचा पूर्णात्म

पृ०
 १७९
 २०१
 २८०
 २५८
 ३०६
 २२३
 २४९
 १५५
 १०५
 ८६
 ३६
 २९४
 ३०९
 १८७
 १७२
 ६५
 २६५
 १०९
 १४३
 ९७
 २३२
 २६८
 ११६
 २८१
 १०५
 २३८
 २४७
 ७३
 १६४
 १७३
 २७१
 २५९
 २७२
 २४०

श्लोकानुक्रमणिका

१४७

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
स्वरूपं सर्वतः पूर्णम्	२३२	स्वाप्नवृक्षोऽपि तत्कालः	१५३
स्वरूपज्ञास्तु ये राम	२५०	स्वाप्नचित्राभिजातम्	१५३
स्वत्वा कामात्मकाश्चापि	२६२	स्वाप्नो वा भाग्यको वापि	१५४
स्वसङ्कल्पाद्राम पश्य	१४४	स्वीयानां गुणरीपाणां	१५४
स्वस्ति तेऽस्तु ममिष्यामि	१९०	ह	
स्वस्वगणं वयं विद्मः	२६८	हत्वा शयिष्यद्वा वयं	१५५
स्वातन्त्र्यमधिगम्याऽयं	१८५	हर्षोऽग्रायन् रोगकृत्	१५५
स्वात्मन्येवाभिजानाति	२८२	हसन्निव लोकान्तः	१५६
स्वात्मभित्तौ जगच्चित्रं	१३८	हितेषु स्थाने वापि	१५६
स्वात्मानं न विजानाति	१२२	हृष्टो निमग्नश्च विद्वत्	१५७
स्वात्मानमारोह्यति	१९	हेमभूषणं वाचिन्तनं	१५७
स्वात्मीकरोति यानल्प	१२९	हेमभूषणं वाचिन्तनं	१५७
स्वात्मानुभववार्तासु	२८७	हेमभूषणं वाचिन्तनं	१५७
स्वानुभूत्या स्वान्तरेव	२८२	हेमभूषणं वाचिन्तनं	१५७